अध्यात्म का प्रशस्त पथ

डॉ० प्रेमनारायण सोमानी

2-5

सप्रेम —

प्रेम सोमानी

12-5-17

अध्यात्म का प्रशस्त पथ

अध्यात्म का प्रशस्त पथ

डॉ० प्रेमनारायण सोमानी
हृदय रोग विशेषज्ञ
भूतपूर्व निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

अप्र
अनुराग प्रकाशन, वाराणसी

ADHYĀTMA KĀ PRAŚHASTA PATHA

[*Category* : Spiritual & Religious Literature]

by

Dr. Prem Narain Somani

ISBN : 978-81-89498-87-0

प्रथम संस्करण : 2016 ई०

[1st Edition : 2016]

Publisher	***प्रकाशक***
ANURAG PRAKASHAN	**अनुराग प्रकाशन**
Chowk, Varanasi - 221001	चौक, वाराणसी-221 001
[U.P. INDIA]	[उत्तर प्रदेश, भारत]

Phone & Fax : (0542) 2421472

E-mail : vvpbooks@gmail.com • sales@vvpbooks.com

Shop at : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-221 001

समर्पण



विपश्यना परम्परा के
भूतपूर्व, वर्तमान एवं भविष्य में होने वाले
सभी आचार्यों को

—डॉ० प्रेमनारायण सोमानी



राधाकृष्ण झुनझुनवाला चैरिटी ट्रस्ट
कोलकाता
के
सौजन्य से

प्राक्कथन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1991 में सेवानिवृत्त होने पर मैंने श्री परमानन्दजी माहेश्वरी के अनुरोध पर पहला विपश्यना शिविर जून 1991 में किया जिसने मेरे ज्ञान चक्षु खोल दिये। निरन्तर अभ्यास एवं 60 दिन तक के दीर्घ शिविर करते-करते मुझे शुद्ध धर्म के व्यवहारिक पक्ष पर चलने का प्रशस्त राजमार्ग मिल गया। इसी से प्रेरित होकर एवं पूज्य गुरुजी कल्याण मित्र गोयनका जी की मौखिक अनुमति प्राप्त कर उनके विचारों और प्रवचनों एवं लेखों से प्रभावित समय-समय पर मेरे लेख दैनिक पत्रों एवं पत्रिकाओं में छपते रहे हैं। इसमें कुछ भी मेरा नहीं है। मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि इन्हें पुस्तक के रूप में किया जाए। मैं श्री ओमदत्त जी त्रिपाठी का आभार मानता हूँ कि उन्होंने इन्हें एकत्र ही नहीं किया वरन् उनका वर्गीकरण भी किया और पुस्तक के रूप में छपवाने को प्रोत्साहित किया। इसमें कुछ सामग्री विपश्यना पत्रिका से संकलित की गयी है।

स्व० श्री शक्तिनारायण सिंह जी 'खाक बनारसी' ने समय-समय पर इन लेखों को सुधारा ही नहीं वरन् अखबारों में छपवाया भी। वह मुझे सदैव लिखने के लिये प्रोत्साहित करते रहे। पत्र-पत्रिकाओं में छपवाने में कितनी दिक्कतें आती हैं वह मैं ही जानता हूँ। मैं उनके प्रति सदैव कृतज्ञ रहूँगा। 'आज' दैनिक पत्र की अधिष्ठात्री श्रीमती शशिबालाजी गुप्त की मैं विशेष अनुकम्पा मानता हूँ जो इन लेखों को स्वयं पढ़कर उन्हें 'आज' में छपवाने भेजती थीं।

मुझे हिन्दी से लगाव है लेकिन मैंने हिन्दी में लेख लिखने का कार्य नहीं किया था। हिन्दी टाइप करने वाले कितनी गलतियाँ करते हें, उन्हें सुधारने में लिखने से अधिक समय लग जाता है। फिर भी मैंने हिम्मत नहीं हारी, यह सोचकर कि शायद इन्हें पढ़ने से किसी पाठक को कोई प्रेरणा मिले और अध्यात्म के सही स्वरूप के विपय गें सोचे और समझे। अध्यात्म तो अपने अन्तरमन में झाँकना है। कितने विचारों का संचय हमने कर रखा है। उनसे कैसे मुक्ति मिले, कैसे मन निर्मल बने।

यदि एक भी व्यक्ति अध्यात्म के मार्ग पर चले तो मैं अपना सौभाग्य मानूँगा। विश्वविद्यालय प्रकाशन के श्री पराग मोदी जी का अनेकानेक धन्यवाद। वह बड़ी जोखिम लेकर इस इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के युग में इस पुस्तक को छाप रहे हैं।

—प्रेमनारायण सोमानी

अनुक्रमणिका

1

'विपश्यना' : आध्यात्मिक साधना की सरल वैज्ञानिक-विधि

तीस वर्षों पूर्व भारत में कोई 'विपश्यना' शब्द तक को नहीं जानता था इसलिए यह जनसाधारण को कोई गुप्त, रहस्यमयी विद्या लगती है, परन्तु विपश्यना साधना भारतवर्ष की अतिप्राचीन विद्या है, जिसकी ऋग्वेद में भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। 2600 वर्षों पूर्व यह विद्या भारत से लुप्त हो गयी थी। भगवान् गौतम बुद्ध ने इस साधना-विधि को अपनी कल्पों की पूर्व पारमी के आधार पर तप एवं पुरुषार्थ से स्वयं खोज निकाली। भगवान् गौतम बुद्ध के तिरोधान के 500 वर्षों तक यह विद्या शुद्ध रूप से भारत में कायम रही। कालान्तर में भारत में इसका रूप विकृत होने लगा जिससे लोग इस विद्या के कल्याणकारी लाभ से वंचित होने लगे और फिर एक बार इसे भूल गये। हम कृतज्ञ हैं सम्राट् अशोक के, जिसने इसका प्रचार-प्रसार समीपवर्ती देशों में किया। उन देशों में म्याँमार (बर्मा) ही ऐसा देश बचा है जहाँ वह विद्या आज भी अपने मूल एवं शुद्ध रूप में विद्यमान है। गुरु-शिष्य-परम्परा से भले ही यह कुछ एक भिक्षुओं तक ही सीमित होकर रह गयी हो। इस स्थिति को देखकर बर्मा के एक महान् सन्त लेडी सयाडा को इस विद्या के भविष्य में कायम रहने की आशंका हुई। इसलिए उन्होंने इसे भिक्षुओं के अलावा गृहस्थों को भी सिखाना शुरू किया ताकि इसके जानने वालों का आधार विस्तृत होता जाये। इन गृहस्थों की कड़ी में पूज्य सया थे जिन्होंने एक आश्रम खोलकर इस विद्या को सिखाना प्रारम्भ किया। उन्हीं से पूज्य ऊ बा खिन जो बाद में बर्मी सरकार के अकाउन्टेन्ट जनरल (महाभिलेखाकार) हुए, ने सीखी। 1955 में कल्याण मित्र पूज्य सत्यनारायणजी गोयनका ने ऊ बा खिन के आश्रम में यह विद्या अपने माईग्रेन रोग निवारण हेतु सीखी। पहले शिविर में ही उनका अर्धकपाली का रोग तो ठीक हो गया ही, इस विद्या के गुणों से इतने अभिभूत हुए कि उन्होंने अपना सारा जीवन ही इस विद्या के शुद्ध रूप के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित

कर दिया ताकि अधिक से अधिक लोग इस भूली-बिसरी भारत की अति पुरातन साधना विधि का लाभ ले सकें। गुरुवर ऊ बा खिन के प्रतिनिधि के रूप में गोयनकाजी 1969 में भारत आये। आने के तुरन्त बाद 3 जुलाई 1989 को पंचायतवाड़ी धर्मशाला, मुम्बई में उनका इस विद्या को सिखाने का पहला शिविर लगा जिसमें उनके माता-पिता को मिलाकर कुल 14 शिक्षार्थी थे। तब से लेकर अब तक अनगिनत शिविर स्वयं गोयनकाजी भारत व विदेशों में लगा चुके हैं। उनके द्वारा शिक्षित हजारों सहआचार्य उनकी पद्धति से देश-विदेशों में विपश्यना साधना निःस्वार्थ-भाव से एवं निःशुल्क सिखा रहे हैं। लगभग 90 देशों में इस विद्या को सिखाने के स्थायी केन्द्र हैं। केवल भारत में ही 120 से अधिक स्थायी केन्द्र हैं। जहाँ केन्द्र नहीं है वहाँ जिप्सी शिविरों में दूसरों से प्राप्त स्थानों पर निरन्तर यह विद्या सिखायी जा रही है। दिनों-दिन इसके सीखने वालों की संख्याओं में दोगुनी, चौगुनी वृद्धि हो रही है। यह विद्या कैदियों को जेलों में, नशे की लत से पीड़ित लोगों को सुधार-गृहों में, समाज से तिरस्कृत अन्धे व कोढ़ियों को और स्कूल, कॉलेजों के बच्चों को बराबर सिखायी जा रही है ताकि लोग मन को वश में करना सीखें और मन को व्याकुल करने वाले विकारों को निकालें।

विपश्यना शब्द भारत की प्राचीन भाषा पालि से लिया गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ विशेषरूप से देखना—अन्तःदृष्टि से देखना। वस्तुएँ व स्थितियाँ जैसी प्रतीत होती हैं वैसी नहीं होती हैं। उनको सही परिप्रेक्ष्य में उनकी वास्तविक प्रकृति का उनके टुकड़े-टुकड़े करके देखने को, विचयन करने को ही विपश्यना कहते हैं। सत्य को जैसा वह है वैसा ही देखना और उसकी अपने अन्दर खोज करना। इस विधि में किसी काल्पनिक रूप, मन्त्र, बिन्दु आदि पर ध्यान नहीं किया जाता। इस विधि में सदैव साथ रहने वाली साँस और शरीर पर होने वाली अनुभूति जिन्हें संवेदना कहते हैं, उन्हीं पर ध्यान करते हैं बगैर कोई प्रतिक्रिया को साक्षीभाव से देखते हैं। इसीलिए यह विधि सार्वजनिक एवं सार्वकालिक है, क्योंकि दोनों की अनुभूति हर व्यक्ति कर सकता है।

भारतवर्ष की समस्त आध्यात्मिक परम्पराओं में सदा से चित्त को राग एवं द्वेषरहित बनाने पर बल रहा है। क्योंकि राग-द्वेषरहित चित्त ही स्वस्थ, निर्विकार एवं निर्मल होता है। परन्तु यह कैसे किया जाता है, यह सब परम्पराओं में गौण हो गया। विपश्यना ध्यान ही आध्यात्मिक साधना की एक वैज्ञानिक-विधि है जो शील, समाधि एवं प्रज्ञा के आधार पर मनुष्य के मन से लोभ, मोह, वासना,

अहंकार, क्रोध, हिंसा, वैमनस्य, ईर्ष्या, आलस्य आदि मनोविकारों की जड़ों पर प्रहार कर उन्हें निकालने में सक्षम है। ये सारे विकार पहले चित्त में ही जागते हैं और फिर वाणी या शरीर के कार्यों में उतरते हैं। इन विकारों के निकलने से मनुष्य के आचरण में सुधार होता है और वह स्वस्थ जीवन जीने की कला सीख जाता है।

विपश्यना साधना सार्वजनिक रूप में 11 दिनों के आवासीय शिविरों में सिखायी जाती है। यह अनमोल विद्या बिना किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय, लिंग एवं देश के भेदभाव के निःशुल्क सिखायी जाती है। यहाँ तक कि भोजन एवं रहने का भी कोई शुल्क नहीं है। इनकी समुचित व्यवस्था रहती है। कोई भी जिज्ञासु इसमें सम्मिलित हो सकता है। सम्मिलित होने के पूर्व वहाँ के अनुशासन के विषय में बताया जाता है। शिविर के दौरान पूर्ण मौन रहना होता है एवं रात्रि-भोजन से विरत। पंचशीलों का पालन आवश्यक रहता है। शिविर की निर्धारित सीमा में रहना पड़ता है। किसी से किसी प्रकार का बाह्य सम्पर्क नहीं कर सकते। पहले तीन दिनों सहज स्वाभाविक साँस के सहारे मन को एकाग्र करना सिखाया जाता है और चौथे दिन 'विपश्यना' प्रारम्भ होती है जिससे शरीर पर होने वाली संवेदनाओं को जानने का अभ्यास एवं उनके प्रति प्रतिक्रिया न करने को सिखाया जाता है। दसवें दिन 'मैत्री भावना की साधना' करना सिखाया जाता है। 'मेत्ता साधना' का अभ्यास ही विपश्यना साधना का तर्कसंगत निचोड़ है। मेत्ता सहानुभूतिपूर्ण सद्भावना है। जब अहं की पुरानी आदत कुछ हद तक भी छूट जाय तब सद्भावना स्वतः मन की गहराइयों से बहने लगती है। यही मैत्री है।

हमारी साँस का मन के विकारों से गहरा सम्बन्ध है। जब कभी हमारे मन में क्रोध, भय, वासना आदि जागती है तो साँस तेज हो जाती है जैसे ही विकार समाप्त हुआ कि साँस फिर स्वाभाविक गति से चलने लगती है। इसलिए पहले तीन दिन साँस पर मन एकाग्र करना बताते हैं ताकि मन सूक्ष्म एवं तीव्र हो जाये। जब तक साँस पर मन लगा रहता है तब तक वह विकारविहीन रहता है और वहीं से मन की सफाई प्रारम्भ हो जाती है। इसी प्रकार शरीर और मन का अभिन्न साथ है। हमारे कुछ अंग तो मन के शासन में रहते हैं परन्तु फेफड़े, हृदय, आमाशय आदि हमारे मन के आदेश का इन्तजार नहीं करते। निरन्तर प्रकृति के नियम के अनुसार कार्य करते रहते हैं जिन्हें हमारा (Unconcious) चित्त नियन्त्रण करता रहता है। हमारा शरीर जीवकोषों से बना है। उन जीवकोषों में निरन्तर रासायनिक विद्युत् एवं चुम्बकीय क्रिया होती ही रहती है, जिनके

विषय में हम अनभिज्ञ रहते हैं परन्तु यही सतत होने वाली क्रियाएँ संवेदना के रूप में सारे शरीर में महसूस की जा सकती हैं। इन्हीं संवेदनाओं को पहचानने का कार्य शिविर के चौथे दिन से प्रारम्भ होता है। संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं और स्वतः नष्ट हो जाती हैं यानी अनित्य हैं। शरीर पर होने वाली इन संवेदनाओं का हमारे मन से गहरा सम्बन्ध है। जब दुःखद संवेदनाएँ होती हैं तो उन्हें दूर भगाने की इच्छा मन में जागती है और जब सुखद संवेदनाएँ आती हैं तो मन उनमें रहने को इच्छुक रहता है। यही मन की प्रक्रिया हमें राग-द्वेष के बन्धनों में बाँधती है। विपश्यना साधना में इन दुःखद या सुखद संवेदनाओं के अनित्य स्वभाव को जानने एवं उनके प्रति तटस्थ-भाव रखने को बताया जाता है ताकि मन समता में रहे और प्रतिक्रियावादी भोगता-भाव से विरत रहे। संवेदनाओं के प्रति दृष्टाभाव रखने से नये संस्कार नहीं बनते, अपितु पुराने संग्रहीत संस्कार विनष्ट होने लगते हैं। फलतः व्यक्ति वर्तमान में जीना सीखता है। भोगता-भाव समाप्त होता है। तटस्थता का भाव या दृष्टा-भाव जागता है। हमारा मन निर्मल होने लगता है। निर्मल मन का सहज स्वभाव है मैत्री, करुणा, मुदिता एवं समता में रहना। इसलिए 10वें दिन मैत्री-भावना की साधना सिखायी जाती है, दसों दिशाओं के सब जीवों के प्रति मैत्री।

तनाव, बेचैनी, व्याकुलता, अशान्ति से आक्रान्त व्यक्तियों को शिविर-समापन के समय प्रसन्न मुद्रा में देखते ही बनता है। यह सर्वविदित है कि जब सब साधन भी हों, सम्पत्ति भी हो तो भी हम दुःखी रहते हैं। साधन-सम्पन्न लोगों का लोभ सुरसा की मुँह की तरह बढ़ता ही जाता है इसीलिए वह दुःखी होते हैं। इनका अभाव तो मानो दुःख ही दुःख है। शारीरिक और चैतसिक दोनों प्रकार के दुःख हमें व्याकुल, अशान्त करते ही रहते हैं। जो विपश्यना साधना नियमित रूप से करते रहते हैं उन्हें शनैः-शनैः भोगता-भाव से छुटकारा मिल जाता है। मन करुणा, मैत्री से भर जाता है। शान्ति एवं सुख प्राप्त होता है। दूसरों के कल्याण में सहायक हो जाते हैं।

शरीर के बारे में सुना है, शास्त्रों में पढ़ा है कि वह नश्वर है, क्षणभंगुर है। रोज मृतकों के शरीरों की 'राम नाम सत्य है' की आवाज कानों में गूँजती रहती है फिर भी हम अपने आपको अक्षुण्ण मानते हैं। मन के बारे में भी सुना और सम्भवतः जाना है, चंचल है। बन्दर की भाँति एक विचार से दूसरे पर कूदता ही रहता है। वह सदैव भूतकाल की याद में जीता है या भविष्य की कल्पना में रत रहता है। लेकिन अनुभूति के स्तर पर यह बात नहीं जान पाये इसीलिए शरीर और

मन पर इतनी आसक्ति है। यह आसक्ति केवल बौद्धिक स्तर पर जानकारी से टूटने वाली नहीं है। इस सत्य का साक्षात्कार करे तभी आसक्ति समाप्त होगी। विपश्यना साधना में अनित्य बोध के आधार पर इसी सत्य का साक्षात्कार अनुभूतियों के आधार पर करना सिखाया जाता है। 11 दिनों के शिविर में साधना सीखने के पश्चात् 1 घण्टे प्रातः एवं 1 घण्टे सायं साधना करना नितान्त आवश्यक होता है तभी लाभ होता है। इस एक-एक घण्टे की साधना से दिनभर में जो विकार जागते हैं, वे निकल जाते हैं। मन को स्वस्थ रखने के लिए इससे अच्छा कोई मन का व्यायाम नहीं है। जैसे-जैसे हम विपश्यना साधना में पुष्ट होते जायेंगे, हमारा मन भूतकाल की स्मृतियों और भविष्य की कल्पनाओं से दूर होता जायेगा और हम वर्तमान में जीना सीख जाते हैं। जैसे-जैसे चित्त निर्मल होता जाता है, हम अपने भीतर सुख-शान्ति एवं सन्तोष का अनुभव करने लगते हैं। चित्त में समता बढ़ेगी, वाणी सौम्य होगी। काया के कार्य शुभ होंगे और हमें उनके प्रति सचेत और जागरूक होना आ जायेगा। निश्चयात्मक ढंग से कार्य करने की क्षमताओं में बढ़ोत्तरी होगी। आपके कार्य स्वतः बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय एवं लोक-कल्याणार्थ होने लगेंगे। इस साधना के निरन्तर अभ्यास से 'मनोशारीरिक' रोग जैसे दमा, पेप्टिक अल्सर, माइग्रेन (अर्धकपाली,) अल्सरेटिव कोलायटिस, मानसिक तनाव एवं उदासी से छुटकारा मिल सकता है। नशे-पत्ते की आदत छूट जाती है। विद्यार्थियों की पढ़ने में एकाग्रता एवं स्मृति में सुधार होता है। साधना करते-करते अपने सम्प्रदाय की बहुत सी बातों को वैज्ञानिक कसौटी पर कसने की आदत बनती है और उन्हें केवल 'ब्रह्मवाक्य' करके नहीं मान लेते। राग-द्वेष के बन्धनों से छुटकारा मिलता है और सही मायने में मुक्ति मिलती है।

एक वैज्ञानिक की भाँति खुले मन से बगैर किसी पूर्वाग्रह के इसे एक बार आजमाकर देखें। इस विद्या में कोई गुरुडम नहीं है। वरन् गुरु के चंगुल में फँसने से सतर्क किया जाता है। दस दिन के आवासीय शिविर में सीखने के बाद वह अपना मालिक स्वयं होता है और अभ्यास की निरन्तरता स्वयं बनाये रखता है।

(माँ आनन्दमयी, अमृत वार्ता, जुलाई 2007)

●

2

विपश्यना क्या है?

विपश्यना को समझें। भलीभाँति समझे बिना सही माने में विपश्यी नहीं बन पायेंगे।

विपश्यना क्या है?

विपश्यना कोई जादू नहीं, जो हमारे सिर पर चढ़कर बोलने लगे। विपश्यना कोई सम्मोहिनी विद्या नहीं, जिससे हम किसी अन्य के द्वारा सम्मोहित होकर अपनी सुध-बुध खो बैठें। विपश्यना कोई मन्त्रविद्या नहीं, जो हमें साँप-बिच्छू या भूत-प्रेत की तरह मन्त्राए रख सके। विपश्यना कोई संघ-भक्ति या अन्ध भावावेश नहीं, जिसके भावोन्माद में हम उन्मत्त बने रह सकें। विपश्यना कोई भजन-कीर्तन, संगीत या नृत्य नहीं, जिसमें भाव-विभोर होकर हम आत्म-विस्मृत बने रह सकें। विपश्यना कोई ऋद्धि या चमत्कार नहीं, जिसकी अलौकिकता से चमत्कृत होकर हम आश्चर्यचकित बने रह सकें। विपश्यना शब्दों के इन्द्रजाल की कोई माया नहीं जिससे किसी के वाणी-विलास से हम अपना बुद्धि-विलास करते रह सकें। विपश्यना कोई दार्शनिक ऊहापोह नहीं, जिसके सहारे हम दिमागी कसरत करते रहने में अपने आपको मशगूल रख सकें। विपश्यना तत्वचिन्तकों का कोई अखाड़ा नहीं जहाँ हम वाद-विवादी, तर्क-वितर्की बनकर शब्दों के बाल की खाल खींचते हुए बौद्धिक खेल खेलने में अपने आपको भरमाये रख सकें। विपश्यना कोई विशिष्ट वेश-भूषा नहीं, जिसे पहनकर हम धर्मवान बन जाने का गुमान कर सकें। विपश्यना कोई रूढ़ि या कर्मकाण्ड नहीं, जिसे पूरा करके हम धर्म के नाम पर आत्म-छलना करते रह सकें। विपश्यना कोई ग्रन्थ-पाठ नहीं, जिसका पारायण करके हम वैतरणी पार होने का स्वप्न ले सकें। विपश्यना कोई प्रपत्ति नहीं, जिसके द्वारा किसी दृश्य-अदृश्य व्यक्ति के प्रति प्रपन्न होकर हम निश्चित हो सकें, अकर्मण्य बन सकें। विपश्यना किसी काल्पनिक तारक देव ब्रह्म अथवा किसी दम्भी धर्माचार्य का मिथ्या आश्वासन नहीं, जो हमारे लिए डूबते को तिनके का सहारा बन सके।

तो फिर विपश्यना क्या है?

विपश्यना सत्य की उपासना है। सत्य में जीने का अभ्यास है। सत्य यानी यथार्थ। यथार्थ इसी क्षण का होता है। भूतकाल की यादें होती हैं। भविष्यफल की कामनायें-कल्पनायें। वास्तविकता इसी क्षण की होती है। अतः विपश्यना इसी क्षण में जीने का अभ्यास है—यह क्षण, जिसमें भूत की कोई कल्पना अथवा भविष्य की कोई कल्पना नहीं। यादों की आकुल आहें अथवा स्वप्नों की व्याकुल चाहें नहीं। आवरण, माया, विपर्यास, भ्रम-भ्रान्तिविहीन इस क्षण का जो सत्य है, जैसा भी है, उसे ठीक वैसा ही, उसके सही स्वभाव में देखना-समझना, यही विपश्यना है। विपश्यना सम्यक् दर्शन है। विपश्यना सम्यक् ज्ञान है।

जो जैसा है, उसे ठीक वैसा ही देख-समझकर जो आचरण होगा, वही सही, कल्याणकारी, सम्यक् आचरण होगा। विपश्यना सम्यक् आचरण है।

विपश्यना पलायन नहीं है, जीवन विमुखता नहीं है, प्रत्युत् जीवन अभिमुख होकर जीने की शैली है। विपश्यना खुली हवा में ठोस धरती पर कदम रखकर चलने की कला है। विपश्यना बुद्धि-किलोल नहीं, प्रत्युत् शुद्ध धर्मशील को जीवन में उतारने की विधि है। विपश्यना आत्म और सर्व- मंगलमयी आचार संहिता है। स्वयं सुख से जीने तथा औरों को सुख से जीने देने की कल्याणकारिणी जीवन-पद्धति है। विपश्यना आत्ममंगल है, सर्व मंगल है। विपश्यना आत्मोदय है, सर्वोदय है।

विपश्यना आत्म-निर्भरता है। बिना बैसाखियों के स्वयं अपने पाँव पर खड़े होने की मंगल विद्या है। स्वावलम्बन की सर्वोत्कृष्ट साधना है। विपश्यना आत्म-दर्शन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्षण है। अपने अन्दर का कितना मैल उतरा? कितना बाकी है? कितनी निर्मलता आयी? कितनी बाकी है? कितने दुर्गुण दूर हुए? कितने बाकी हैं? कितने सद्गुण आये? कितने बाकी हैं? स्वयं अपना लेखा-जोखा रखते रहने की जागरूकता विपश्यना है। स्वयं तस्कर, स्वयं रक्षक। स्वयं रोगी, स्वयं चिकित्सक। अज्ञान से ज्ञान, मैल से निर्मलता, रोग से आरोग्य, दुःख से दुःखविमुक्ति की ओर बढ़ते रहने का स्वप्रयास विपश्यना है। विपश्यना सही प्रयास है, सही प्रयत्न है। सम्यक् अभ्यास, सम्यक् व्यायाम है।

विपश्यना आत्मसंवर है—अपने मन पर मैल न चढ़ने देने का संवर। विपश्यना आत्मनिर्जरा है—अपने मन के पुराने मैल उतार-फेंकने की निर्जरा। नया मैल कोई दूसरा नहीं, हम स्वयं मोह-विमूढ़ित होकर चढ़ाते रहते हैं। अतः

स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक, सतत जागरूक रहकर नया मैल न चढ़ने देना विपश्यना है। पुराना मैल किसी अन्य ने नहीं, प्रमादवश स्वयं हमने चढ़ाया है। इसे दूर करने की सारी जिम्मेदारी हमारी अपनी है, किसी अन्य की नहीं। अतः अपना पुराना मैल स्वयं उतारते रहना विपश्यना है। धीरजपूर्वक प्रयत्न करते हुए थोड़ा-थोड़ा मैल उतारते रहेंगे तो एक दिन पूर्ण निर्मलता प्राप्त हो ही जायेगी। मन निर्मल होगा तो सद्गुणों से भर जायेगा, दूषित मन पर आधारित सारे शारीरिक रोग, सारे दुःख स्वतः दूर हो जायेंगे। विपश्यना आरोग्यवर्धिनी संजीवन औषधि है, चित्तशोधनी धर्म-गंगा है, दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा है, मुक्तिदायिनी धर्मवीथी है।

विपश्यना शील, समाधि में स्थित होकर अन्तर्प्रज्ञा जाग्रत् करने का पावन अभ्यास है। शनैः-शनैः प्रज्ञा पुष्ट करने का सत्प्रयास है। स्थितप्रज्ञ होने का शुभायास है। प्रज्ञा यानी प्रत्येक प्रत्युपन्न स्थिति को प्रकार-प्रकार से जानना। विमोहिनी एकान्त दृष्टि त्यागकर सत्य-दर्शिनी अनेकान्त दृष्टि द्वारा यथार्थ का सर्वांगीण निरीक्षण करना, तटस्थ होकर उसके सही स्वभाव का साक्षात्कार करना—यही विपश्यना है। विपश्यना निसंग दर्शन है, निर्लिप्त निरीक्षण है, नितान्त अनासक्ति है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति का सामना होते ही उसे ठीक-ठाक देखे-समझे बिना सहसा अन्ध प्रतिक्रिया करना दुष्प्रज्ञता है। यही मानसिक क्षोभ है, उत्तेजना है, विकृति है, असन्तुलन है, अशान्ति है; अतः दुःख है। परन्तु ऐसी हर अवस्था को विवेकपूर्वक देख-समझकर अपने मन की समता बनाये रखना प्रज्ञा है। आगत परिस्थिति का सन्तुलित चित्त से सामना करना धर्माचरण है, मंगल आचरण है। यही विपश्यना है। उत्पन्न स्थिति को हथियाने या हटाने की हठात् चेष्टा करने से बचते हुए अपने आपको सन्तुलित रखना और तदनन्तर जो कुछ करणीय है, शान्तिपूर्वक वही करना, यही सम्यक् जीवन व्यवहार है। यही विपश्यना है। पर को बदलने के प्रयत्न के पूर्व स्व को बदलना ही शुद्ध चित्त का व्यवहार कौशल्य है। यह विपश्यना है। विपश्यना आत्मसंयम है, आत्म-सन्तुलन है, आत्मसमता है। आत्मसामायिक है।

विपश्यना आत्मबुद्धि है, आत्म-विमुक्ति है। विकारविमुक्त शुद्ध चित्त में मैत्री और करुणा का अजस्र झरना अनायास झरता रहता है। यही मानव- जीवन की चरम उपलब्धि है। यही विपश्यना साधना की चरम परिणति है।

विपश्यना की सिद्धि कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं। कष्टसाध्य अवश्य है, पर असाध्य नहीं। विपश्यना स्वप्रयत्नसाध्य है। केवल एक या एकाधिक विपश्यना शिविरों में सम्मिलित हो जाना ही सब कुछ नहीं है। यह तो जीवनभर का अभ्यास है। विपश्यना का जीवन जीते रहना होगा, सतत सजग, सतत सचेष्ट, सतत सयत्न।

अतः अदम्य उत्साह के साथ विपश्यना के इस मंगल पथ पर आगे बढ़ते चलें। गिरते-पड़ते और फिर खड़े होकर, घुटने को सहलाकर, कपड़ों को झाड़कर आगे बढ़ते चलें। हर फिसलन अगले कदम के लिए नयी दृढ़ता और हर ठोकर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नयी उमंग और नया उत्साह पैदा करने वाली हो। अतः रुकें नहीं, चलते जायें। कदम-कदम आगे बढ़ते जायें। यही मंगल विधान है।

●

3

अन्तर्मन की सफाई विपश्यना पद्धति से

आज के वातावरण में बाहरी सफाई पर तो काफी जोर दिया जाता है परन्तु अन्तर्मन की सफाई पर लोग पहले से अधिक गफलत में रहने लगे हैं। मन की सफाई की कोई बात नहीं करता। मन की समस्या तब प्रस्तुत होती है जब वह काफी विकृत होकर शरीर में बीमारी का रूप ले लेती है या मनोवैज्ञानिक समस्या बनकर पागलपन की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। यह सब मनःविकृति के उग्र रूप हैं। इसलिए मन की खराबी इस सीमा तक पहुँचे, इससे पहले ही मन को स्वस्थ रखने की व्यवस्था होनी चाहिये।

प्रश्न यह उठता है कि मन मैला कैसे होता है और मन मैला होने का पता कैसे लगता है? इसके लिए हमें अपने भीतर झाँकना होगा। बाहर की गन्दगी तो दूसरे व्यक्ति में इंगित कर देंगे परन्तु मन की गन्दगी का पता स्वयं को ही लगाना होगा।

स्थूल रूप से देखें तो मन की व्याकुलता ही मन के विकार या गन्दगी के लक्षण हैं। मन में क्रोध आया तो शरीर और मन दोनों पर असर होता है। शरीर की धड़कन बढ़ जाती है, रक्तचाप बढ़ता है, स्पन्दन बढ़ती है और मन व्याकुल हो जाता है। इसी प्रकार जब मन में कपट, लालच या अन्य विकार जागते हैं तब मन बेचैन हो जाता है। परन्तु हम इन लक्षणों के प्रति लापरवाही बरतते हैं। और मन की व्याकुलता और विकारों को दबाते हैं, फिर स्थूल बीमारी के रूप में यह लक्षण शरीर पर प्रकट होते हैं तब हमें पता लगता है कि मन बीमार है। लेकिन उस वक्त भी मन की बजाय हम शरीर का ही इलाज करते हैं। जब दवाइयाँ कुछ असर नहीं करती हैं तब शायद मन को स्वस्थ करने की बात हम सोचते हैं।

कहने में आता है 'मन स्वस्थ है तो शरीर भी स्वस्थ है' (मन चंगा तो कठौती में गंगा) परन्तु इस उक्ति पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता। बल्कि उल्टी बात पर ही ध्यान दिया जाता है। 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन बसता है।'

इसलिए मन की बजाय शरीर पर विशेष ध्यान देते हैं। शरीर की इन्द्रियों की जो चीज अ़च्छी लगती है उसे प्राप्त करने में सारी शक्ति लगा देते हैं। उसके लिए छल-प्रपंच जो भी करना पड़े, करते हैं। इससे मन में विकृत विचार व व्याकुलता आती है एवं उसकी अवहेलना करने तथा अनिक्षितगमन से मन तथा बाद में शरीर भी अस्वस्थ हो जाता है।

उदाहरणार्थ देखें—आँख, कान-जीभ आदि इन्द्रिय सुख के लिए अच्छे या बुरे की सीमा तोड़कर छल-कपट, द्वेष, हिंसा आदि का सहारा लिया जाता है। धन-संग्रह आज की सबसे बड़ी बीमारी है। धन-संग्रह ही जीवन का मुख्य लक्ष्य हो गया है। प्रायः मनुष्य के दिल और दिमाग में यह बैठ गया है। हमारी भौतिक सभ्यता की यही देन है। धन जल्दी प्राप्त करने के लिए अपनों तक की हत्या अब सामान्य बात हो गयी है। भाई-भाई में झगड़ा और एक-दूसरे के जानी दुश्मन हो जाने की बात प्रायः हर घर में देखी जा सकती है। इसके पीछे अस्वस्थ मन और अधिकाधिक धन की वासना ही मुख्य कारण है। यह सब करते हुए पहले-पहल यह उचित नहीं है कि मन में आवाज होती है किन्तु वह पूर्ण पुष्ट नहीं होती और भौतिकता में जकड़े आन्तरिक मन द्वारा दबा दी जाती है और फिर तो उचित-अनुचित की; न्याय-अन्याय की क्षमता ही नष्ट हो जाती है। मन पर कृत्रिम सुखों की मैल परत दर परत जमा होती चली जाती है। अन्ततः मन बेखटके दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। यानी वास्तविक नैसर्गिक सुखों से बहुत दूर चला जाता है। फिर यदि नैसर्गिक-आत्मिक-परमानन्द की प्राप्ति करनी है तो भजन, उपासना, तीर्थ-व्रत आदि के ऊपरी और बाह्य क्रिया के विपरीत अन्तर्मन को बाँधने की सहज क्रिया का अभ्यास कर उस पर परत दर परत चढ़ी हुई मैल को साफ करना होगा।

हमारा चेतन व अचेतन मन—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतन मन पूरे मन का एक छोटा सा अंश है। मन का अधिकांश हिस्सा तो अचेतन है। इस अचेतन मन का हमें ज्ञान ही नहीं होता। अधिकांश क्रियाएँ अचेतन के आदेश से ही होती हैं। सोते हुए मच्छर को हटाने की क्रिया अचेतन मन के आदेश से ही होती है। चेतन मन को तो यह पता ही नहीं रहता कि कब हाथ उठा और दुःखद संवेदना को दूर करने लगा। अचेतन मन में हमारे अनन्त जन्मों के संस्कार भरे पड़े हैं एवं इच्छाएँ दबी पड़ी हैं। जब मौका मिलता है तभी वह दबे संस्कार व इच्छाएँ अपना सर उठाकर चेतन-चित्त पर अभिभूत हो जाती हैं

और तब व्यक्ति मजबूर हो जाता है। अतः मन की सफाई अचेतन मन के स्तर पर ही होनी चाहिये। चेतन मन या बुद्धि के स्तर पर हम उचित या अनुचित का निर्णय ले भी लें तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। क्योंकि मन के भीतरी संस्कारों की जब तक सफाई नहीं होती, तब तक व्यक्ति का आचरण नहीं बदलता है। मन की गहराइयों तक पहुँचने के लिए कोई रास्ता होना चाहिये। और वह है—'विपश्यना साधना'। यह पालि शब्द है जिसका अर्थ है—अन्तर्दृष्टि यानी आत्म-निरीक्षण करने की कला।

विपश्यना साधना-विधि—इस ध्यान-पद्धति में मन की गहराइयों तक पहुँचने के लिए शब्दरूप दृष्टि आदि का उपयोग नहीं होता। केवल शुद्ध साँस का आलम्बन लेकर काम शुरू होता है। और फिर आगे बढ़कर शरीर पर होने वाली अनुभूतियों-संवेदनाओं को जानते हैं। इस प्रक्रिया में किसी भी संवेदना को न अच्छी, न बुरी मानते हैं। संवेदनाएँ शरीर पर स्वतः हो रही हैं। यह शरीर का धर्म है। इस प्रक्रिया को केवल तटस्थ भाव से जानते हैं। आँखें बन्द कर सिर से पाँव तक सारे शरीर में इस प्रकार से निरीक्षण करते हैं तो समता-भाव पुष्ट हो जाता है। अब तक मन का स्वभाव या अच्छी वस्तु की चाहना और बुरी को ढकेलना था। परन्तु अब मन में दोनों के प्रति द्रष्टा-भाव आने लगता है। यूँ मन का स्वभाव बदलता है। मन जितना समता में स्थित होता है, उतना-उतना सूक्ष्म बनता जाता है। और तब शरीर के अन्दर की संवेदनाएँ जैसे कि धड़कन-फड़कन, दबाव-भारीपन, खुजलाहट, सुरसुराहट आदि महसूस करने लगता है। इस तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए मन की पूर्वग्रन्थियों की गहराइयों तक पहुँच जाते हैं और तब वहीं दबे हुए संचित कर्म-संस्कारों की ग्रन्थियाँ उभर-उभर कर संवेदनाओं के रूप में शरीर पर प्रकट होने लगती हैं। हम उनके अनित्य स्वभाव को जानते हुए द्रष्टा-भाव से उन्हें भी जान लेते हैं और इस प्रकार उनका शमन (निर्जरा) कर लेते हैं।

अब हम अपने मन को भीतर तक देखने लगे। भीतर की स्फुरणाओं को जानने लगे। बुद्धि के स्तर नहीं, अनुभव करने लगे कि जब मन में क्रोध आता है तब शरीर पर अप्रिय संवेदना होती है और मन बेचैन हो उठता है। इसी प्रकार जब अच्छे विचार आते हैं तब शरीर पर प्रिय संवेदना होने लगती है और मन प्रसन्न हो उठता है। व्यक्ति जब इस सच्चाई को अनुभव से अपने भीतर जान लेता है तो फिर अपने मन को व्याकुल करने का काम ही क्यों करेगा?

फिर तो वह वैसा ही काम करेगा, जो मन को शान्त व सुखी रखे। स्वतः ही आचरण बदल जायेगा।

यही मनुष्य के आन्तरिक परिवर्तन का मार्ग है। जब मन साफ करने का साधन मिल गया तब जैसे शरीर को सुबह-शाम साफ करते हैं, उसी तरह मन को दोनों वक्त साफ करना चाहिये। और अब मन में कभी विशेष रूप से विकास जागे, तब तत्क्षण ही मन की सफाई कर लेना आवश्यक और सरल है। मन में क्रोध जागा तो उसी क्षण उसे देखने लगे यानी उस क्षण की संवेदनाओं के प्रति जागृत हो जायें। कुछ ही देर में क्रोध गायब और मन साफ। मन में जैसे ही गन्दगी आयी कि मन साफ कर लें, साफ करते गये तो फिर नयी-नयी गन्दगियाँ जमा नहीं हो पायेंगी और तब पुरानी गन्दगियों को निकलने का, साफ होने का मौका मिलेगा और इस तरह मन निर्मल होता जायेगा। मन विकारविहीन बनने लगेगा, मन का यही तो सही स्वभाव है।

'स्व-भाव में रमण ही एक धर्म है 'स्व-भाव'। यानी निजता को जानते रहने से मन और तन दोनों स्वस्थ रहेंगे। 'स्व' में स्थिर होना ही स्वस्थ होना है।

एक बार यह वैज्ञानिक प्रक्रिया किसी आचार्य के मार्ग-दर्शन में सीखें फिर स्वयं ही इसका प्रयोग करें। यह विधि पूर्ण रूप से सम्प्रदायविहीन है, सार्वजनीन है। इस अमूल्य साधना-विधि को सीखने के लिए समय निकालें और इसका रसास्वादन करें। इसमें सबकी स्वस्ति-मुक्ति एवं मंगल निश्चित है।

(गाण्डीव, जनवरी 11, 1995)

●

4

जीवन जीने की कला : विपश्यना

वाराणसी आदिकाल से धर्म एवं अध्यात्म का केन्द्र रहा है। भगवान् बुद्ध का प्रथम उपदेश यहाँ हुआ था, इनके उपदेशों का मूलभूत सार विपश्यना है। वैसे विपश्यना भारतवर्ष की सनातन साधना-पद्धति है। कालान्तर से यह विद्या विस्मृति के गर्त में चली गयी। इसका वर्णन ऋग्वेद में भी मिलता है। परन्तु 2500 वर्षों पूर्व भगवान् गौतम बुद्ध ने अपनी तपस्या-साधना से इसे लोक-कल्याण के लिए सर्वसुलभ बनाया परन्तु यह विद्या किन्ही कारणों से भारतवर्ष में फिर सर्वथा लुप्त हो गयी। कल्याण मित्र श्री सत्यनारायणजी गोयनका के अथक प्रयास से इसे पुनर्जीवन मिला और उन्हीं के प्रयास से यह पुरानी विद्या सरलता से सार्वजनिक रूप से सिखायी जाती है। इसे कोई भी व्यक्ति सीख सकता है। इस ध्यान-पद्धति को सीखने के लिए 10 दिन शिविर में ही रहना पड़ता है।

विपश्यना का मुख्य लक्ष्य चित्त को शुद्ध करना है। इसके माध्यम से साधक अपने अन्दर संचित विकारों, दैनिक जीवन के तनावों, साम्प्रदायिकता एवं जातीयता के आधार पर बँधे बन्धनों से मुक्त हो जाता है। जीवन में आने वाली समस्याओं से अभिमुख हो उनको सफलतापूर्वक हल करने में सक्षम हो जाता है।

गीता के अध्याय 15 (10) 'विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान-चक्षुषः' श्लोक में भी इसका वर्णन है। पश्यना अर्थात् देखना वि-विशेष ढंग से देखना ही विपश्यना का मूल अर्थ है। विशेष ढंग से देखने का अर्थ टुकड़े-टुकड़े करके (विचयन करके) देखना होता है। इस ध्यान-भावना से लोकीय एवं लोकोत्तर फल की प्राप्ति होती ही है और साथ ही साथ दैनिक व्यवहार में वास्तविक सत्य समझ में आने लगता है और प्रयुक्त होता है।

विपश्यना से लाभ—इसके अभ्यास से काया-वाणी-चित्त-कर्म सुधरते हैं। चित्त में समता आती है और मानसिक तनाव से मुक्त होते हैं, अन्तःकरण

में शान्ति का अनुभव होने लगता है, जीवन में सजगता बढ़ती जाती है। विपश्यना करने से भौतिक जीवन में निम्न लाभ होने लगते हैं।

1. **शारीरिक बीमारियों में लाभ**—दिल का दौरा, दमा, ब्लडप्रेशर, डायबिटीज, मानसिक तनाव, अर्धकपाली, सिरदर्द, अल्सरेटिवकोलाइटिस इत्यादि दुरूह बीमारियों में निश्चित सुधार एवं दवाओं से छुटकारा।

2. स्वास्थ्य, सौन्दर्य एवं कान्ति में वृद्धि।

3. नशापत्ता (सिगरेट, शराब, पान-मसाला, तम्बाकू, ट्रैंक्विलाइजर की गोलियाँ आदि) से मुक्ति एवं भविष्य की सम्भावनाओं से भी निजात।

4. दैनिक जीवन के खिचाव एवं कुण्ठा से मुक्ति।

5. आत्म-निरीक्षण करने की क्षमता का विकास।

6. स्वानुशासन, स्मृति और ग्राह्यशक्ति में वृद्धि।

7. चित्त की एकाग्रता।

8. चित्त की निर्मलता एवं एकाग्रता ही समाधि का पर्याय है। इससे प्रज्ञा-उद्गम होती है

9. निर्भय, निर्वैर एवं सजग व्यक्तित्व का विकास।

10. आपसी सद्भावना, करुणा व मैत्री की वृद्धि।

11. सही-गलत की पहचान की क्षमता में बढ़ोत्तरी।

कार्यक्षमता—कार्य करने की क्षमता में बढ़ोत्तरी एवं आजीविका के साधनों का सही उपयोग, सही साधन जुटाने की क्षमता में वृद्धि।

लोकोत्तर लाभ—किसी भी धर्म-सम्प्रदाय के हों, अपने सम्प्रदाय के गुणग्राह्यता-क्षमता में वृद्धि। इससे बहुजनहिताय लोक-कल्याण कार्यों में योगदान करने की प्रेरणा मिलती है। राग-द्वेष के बन्धनों से मुक्त हो सुखी जीवन के साथ-साथ स्थितप्रज्ञता प्राप्त करता है।

'सुखी जीवन हेतु विपश्यना की आवश्यकता है, शिविर में सम्मिलित हो लाभान्वित हों।'

(गाण्डीव, 1994)

●

5

मन चंगा तो कठौती में गंगा

जीवन का सारा खेल मन का है। मन हमारे विचारों का उद्‌गमस्थल है। जैसे विचार जागते हैं उसी प्रकार की वाणी और कर्म हो जाते हैं। जैसे चित्त की चेतना वैसे ही कर्म। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः"। विषयों में आसक्त मन बन्धन का कारण है और निर्विषय मन मोक्ष का हेतु बनता है। तथागत भगवान् गौतम बुद्ध ने कहा है—सारी चित्त की अवस्थाये मन में उत्पन्न होती हैं। मन ही मुख्य है। सारी क्रियायें मनोमय हैं। जब आदमी मलीन मन से बोलता है या कार्य करता है तब दुःख उसके पीछे वैसे ही हो लेता है जैसे गाड़ी के पहिये बैल के पैरों के पीछे। जब आदमी स्वच्छ मन से बोलता है या कार्य करता है तब सुख उसके पीछे वैसे ही हो लेता है जैसे आदमी के पीछे कभी न साथ छोड़ने वाली छाया।

मन को मनुष्य का शत्रु उसके निम्नलिखित गुणों के कारण कहा गया है—

1. मन चंचल होता है क्योंकि वह कभी स्थिर नहीं रहता।

2. वह मैला होता है तो बुरे और निम्न विचारों का उद्‌गमस्थल है और जल की भाँति नीचे की ओर ही बहता है।

3. वह मूर्ख होता है क्योंकि वह समझाने पर नहीं समझता।

4. वह सदा भूखा रहता है क्योंकि वह सदैव अतृप्त रहता है—जैसे बेपेंदी की बाल्टी भरते ही जाओ, कभी भरेगी ही नहीं।

5. वह पागल है क्योंकि वह बार-बार धोखा खाने के बाद भी विषयों के पीछे दौड़ता है।

6. वह बड़ा हठी और उद्दण्ड है। सुधार से दूर भागता रहता है। सुधार से बचने के लिए तरह-तरह के बहाने बनाता है—उनका न्यायीकरण करता है।

मन को प्रदुष्ट करने के दो प्रकार के दोष माने गये हैं जो इसके घनिष्ठ मित्र हैं—

1. **स्थायी**—लोभ, मोह, अहंकार तथा मान-सम्मान की इच्छायें जो निरन्तर मन में बनी रहती हैं।

2. आवेगजन्य—काम, क्रोध, कुण्ठा, ईर्ष्या अल्पकालिक एवं अस्थायी होते हैं। मन की ये दुर्बलतायें ही उसे विषय-भोगों में लिप्त रहने को प्रेरित करती हैं। वह इन्द्रियों का दास बन कर काम-भोगों में आसक्त रहता है—उनके पीछे दौड़ता है जैसे मधुमक्खी बार-बार स्वाभाविक रूप से मीठे रस पर मँडराने लगती है वैसे ही मन बड़ी सहजता से बार-बार विषय-चिन्तन में लगता है।

मन ही दुर्जन, मन सुजन, मन बैरी, मन मीत।
मन सुधरे सब सुधरिहैं, कर मन परम पुनीत॥

मन की जीत ही मनुष्य की सबसे बड़ी जीत है। वह केवल वीर ही नहीं, महावीर है जिसने मन को वश में कर लिया। जिसने अपने मन को वश में कर लिया उसी ने सारे जगत् पर विजय प्राप्त कर ली।

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत

मन को जीतने के लिए अपने आपसे संघर्ष करना पड़ता है परन्तु यह पूरे मनोयोग से न होने पर प्रायः असफल ही रहता है। सतही स्तर पर वह एक ओर अपने विषय-भोग को बनाये रखना चाहता है और दूसरी ओर अपने को जीवन के उन्नत आध्यात्मिक सोपान पर भी आसीन करना चाहता है। पर यह सम्भव नहीं है। आन्तरिक उन्नति भी ऊँची मंजिल पर चढ़ने के समान है। नीचे के पायदान को छोड़े वगैर भला कोई कैसे ऊपरी मंजिल पर पहुँच सकता है? विषयों से मन को ऊपर उठाये बिना दिव्यता के असीम संसार में प्रवेश नहीं हो सकता। इसके लिए दृढ़-संकल्प की आवश्यकता है।

करत-करत अभ्यास से जड़मत होत सुजान।
रसरी आवत जात से सिल पर परत निशान॥

अभ्यास और वैराग्य से ही मन काबू में आता है। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। मन को वश में करने के लिए अभ्यास में अकुशल चित्त-वृत्तियाँ बार-बार उभरती हैं और फिर देर-सबेर उनका निरोध हो ही जाता है। एक मिसाल से समझें। जैसे जंगली भैंसों की नाक में नकेल डालते समय वह बहुत उछल-कूद मचाता है, रस्सी तोड़कर भागने का प्रयास करता है और फिर थककर बैठ जाता है और नाक में नकेल डलवा लेता है। अब उस जंगली भैंसे से जो काम करवाना हो, करवा सकते हैं।

क्या है यह अभ्यास? बहुत तरह के अभ्यास हैं पर वह सतही तौर पर मन को ठीक करते हैं पर मौका पाकर विकार फिर उभर जाते हैं। जैसे—गन्दे

पानी में फिटकरी डाल दें तो पानी निर्मल, स्वच्छ दिखने लगता है। गन्दगी नीचे बैठ जाती है। फिर थोड़ा सा हिलाने पर गन्दगी पुनः सब ओर छा जाती है। परन्तु तथागत द्वारा निर्देशित 'विपश्यना साधना' मन का वह अभ्यास है जिससे मन केवल वश में ही नहीं अपितु जड़ों से विकारविहीन किया जा सकता है। निर्मल मन ही अध्यात्म का लक्ष्य है।

तुलसीदासजी ने रामायण में श्रीराम के मुख से कहलाया है—

निर्मल मन सोही मोहि भावा

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

अध्याय 12, श्लोक 16

(मुझे ऐसे भक्त प्रिय हैं जिनकी आकांक्षायें समाप्त हो गयी हैं और मन को निर्मल करने में दक्ष हैं। जो किसी से कुछ अपेक्षा नहीं करता, जो पवित्र है, जो कर्तव्यकर्म में निपुण है, जो सभी से उदासीन तथा व्यथाविहीन है, सभी प्रकार के कार्यों का त्यागकर दिया है। जो ऐसा है वही मेरा प्रियभक्त है।)

जब मन निर्मल और वश में हो जाता है तो मानव के सहज स्वाभाविक सद्गुण जैसे—प्रेम, सहानुभूति, सद्भाव, सदाचार, करुणा, सेवा, दया, लज्जा और दुराचार न करने की प्रवृत्ति जागती ही नहीं वरन् सदैव बनी रहती है। यही प्रवृत्ति मन के बार-बार मैला होने पर उसे निर्मलीकरण की प्रक्रिया के अभ्यास की ओर बराबर अग्रसारित करती है।

विपश्यना साधना के चार सोपान हैं जिनके निरन्तर अभ्यास से मन स्वस्थ, स्थिर और निर्विकार होता है—

पहला सोपान : पञ्चशीलों का पालन—जीव-हिंसा से विरत रहना, झूठ नहीं बोलना, व्यभिचार से दूर रहना, चोरी नहीं करना, नशे-पते से विरत रहना। यह विपश्यना की साधना की नींव है।

दूसरा सोपान : समाधि—नासिका के नीचे और ऊपर वाले होंठ पर सहज स्वाभाविक स्वाँस पर चित्त को निरन्तरता से स्थिर करना, एकाग्र करना। एकाग्र हुआ चित्त सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण हो जाता है और तब तीसरे सोपान में उतरने लायक होता है। चित्त की एकाग्रता पुष्ट होने पर शील-पालन सहज हो जाता है।

तीसरा सोपान : प्रज्ञा के क्षेत्र में उतरना—जब एकाग्र हुआ ऊपर

तीक्ष्ण और सूक्ष्म चित्त शरीर के किसी अवयव पर पहुँचता है तो वहाँ होने वाली जैव रासायनिक क्रियायें संवेदना के रूप में अनुभूत होने लगती हैं। यह संवेदनायें स्थूल या दुःखद और सूक्ष्म व सुखद या अदुःखद-असुखद होती हैं। इन संवेदनाओं पर कोई प्रतिक्रिया न करें और उन्हें साक्षीभाव से अनुभव करते रहें। सुखद संवेदनायें अच्छी लगती हैं, अतएव उन्हें बनाये रखने को मन करता है। परन्तु दुःखद संवेदनाओं को दूर करने की तीव्र इच्छा होती है। यदि समझ में आ जाये कि यह दोनों प्रकार की संवेदनायें उत्पन्न होकर देर-सबेर नष्ट हो जाती हैं यानी नश्वर हैं, अनित्य हैं, यानी उनके प्रति क्या राग, क्या द्वेष। इस प्रकार भोगता-भाव नष्ट होता है और साक्षीभाव प्रबल होता जाता है।

यही मन को निर्मल करने की क्रिया है। यही भगवान् गौतम बुद्ध की सबसे बड़ी खोज है। चित्त पर कोई भाव जागा कि शरीर पर उसकी जैव रासायनिक क्रिया आरम्भ हुई जो संवेदना के रूप में प्रकट होती है। मन में कुशल वृत्ति जागती है तो मन में सुखद संवेदना जागती है। अकुशल वृत्ति जागती है तो दुःखद संवेदना जागती है। इसके प्रति कोई प्रतिक्रिया न करना ही या बन्धनों से निवृत्त होना है—मोक्ष या निर्वाण के पथ पर अग्रसर होना है।

चौथा सोपान : मैत्री की साधना—जब साधना से मन निर्मल होता है तो मन में प्रेम, करुणा, मुदिता और समता जागती है। इसे मैत्री की साधना से पुष्ट करते हैं और इस मैत्रीभाव को संसार के सारे दृश्य और अदृश्य प्राणियों के प्रति प्रेषित करते हैं। निरन्तरता से मन को समता में स्थायी कर उसे अपना मित्र बनाते हैं जो हमारा सबसे बड़ा सहायक बनता है। हम प्रतिदिन अपने दैनिक क्रिया-कलापों में कुछ न कुछ मैल अपने मन पर चढ़ा ही लेते हैं, उसे दूर करने और मन को निर्मल करने का साबुन विपश्यना है।

वाणी तो वश में भली, वश में भला शरीर,
पर जो मन वश में करे, वही शूर वह वीर।

सबका मंगल हो।



6

इन्द्रिय सुख : एक मनोविकार

हम सब साक्षी हैं कि दुनिया पर प्रतिदिन कैसी-कैसी नयी विपत्तियाँ आ रही हैं। संसार के दुःख प्रतिदिन बढ़ रहे हैं। हर युग की अपनी समस्याएँ होती हैं। काल का अखण्ड प्रवाह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जा रहा है त्यों-त्यों रोगों की असाध्यता, पर्यावरण का संकट, आपराधिक बाहुल्य, आपसी वैमनस्य, आदर्श आचरण का अभाव, राष्ट्रीय अस्थिरता तथा ढेर सारी वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय समस्याएँ मानवता को अपने विकराल तथा क्रूर पंजों से अपने जबड़ों में दबोचती जा रही हैं। उत्तरोत्तर प्रतिदिन भय, अविश्वास, धोखा, अधर्म तथा अनैतिकता का वातावरण विश्व को प्रदूषित करता जा रहा है। मानव दुःखी है, समाज उच्छृंखल है, आतंकवाद पनप रहा है और सुव्यवस्था लुंज-पुंज हो गयी है। एक राष्ट्र दूसरे पर आक्रमण कर रहे हैं। जनसंख्या-विस्फोट विनाश के कगार पर पहुँच चुकी है। उपभोक्ता संस्कृति सब रूपों में निरीह मानव को तरह-तरह से लुभाकर सुनहरे सपनों का मकड़जाल बुनकर हमें उसी में उलझाये हुए है कि हम इन्द्रिय-सुखों के अलावा कुछ सोच ही न पायें। स्थिति निराशाजनक हो रही है और हम असहाय महसूस करते हैं। हर युग की एवं वर्तमान की समस्याओं का विश्लेषण करें तो उसकी जड़ें मनुष्य की क्षणिक सुख की वृत्ति जो स्वार्थ, लोभ-लालच, ईर्ष्या, अहंकार, वैमनस्य, दुर्भावना एवं अन्य विकारों को जन्म देती हैं। हम सब चाहते हैं कि वास्तविकता पर जब तक पर्दा पड़ा रहे, अच्छा है। उससे अभिमुख होकर उसका निदान एवं चिकित्सा तो दूर की बात है।

क्षणिक इन्द्रिय-सुख का एक प्रतीकात्मक दृष्टान्त—एक व्यक्ति घने जंगल में काँटोंभरी पथरीली राह पर भागते हुए उसे पार करने में लगा था कि अचानक एक हाथी ने उसे पीछे से दौड़ा लिया। जान बचाने के लिए रास्ते में वह एक अन्धे कुएँ में कूद पड़ा। नीचे दृष्टिपात करने पर उसे एक फुफकारता

हुआ साँप दिखायी पड़ा, अतएव वह कुएँ की दीवाल से उगी हुई एक झाड़ी को पकड़कर लटक गया।

झाड़ी में शहद की मक्खियों का एक छत्ता था जिसके हिल जाने से शहद की बूँदें उस व्यक्ति के मुँह पर गिरने लगीं। शहद की मिठास चखकर वह व्यक्ति सबकुछ भूल कर शहद की बूँदों का रसास्वादन करने लगा। उधर जिस झाड़ी से वह लटका था उसे दो चूहे कुतरने में लगे थे जिससे वह बिल्कुल बेखबर था। एक दयालु राहगीर उधर से गुजर रहा था कि उसने इस नजारे को देख झाड़ी से लटके हुए व्यक्ति से कहा कि इस दयनीय परिस्थिति से बचने की तरकीब बताता हूँ। उसने एक रस्सी नीचे लटकायी और कहा कि इसे पकड़ कर इसके सहारे इस कुएँ से तुम निकल आओ। परन्तु वह व्यक्ति तो शहद का रसास्वादन करने में लगा हुआ था। उसने राहगीर से कहा—अभी नहीं। जरा शहद और चख लूँ।

यह संसाररूपी जंगल कण्टकाकीर्ण मार्ग से भरा हुआ है। यहाँ मनुष्य जन्म लेकर तरह-तरह की मुसीबतों का सामना करता ही रहता है। कभी जीवन के बसन्त हैं तो कभी पतझड़, कभी प्रशंसा तो कभी निन्दा, कभी यश तो कभी अपयश, कभी धनी तो कभी निर्धन, कभी सुखी तो, कभी दुःखी। इन द्वन्द्वों के बीच मृत्युरूपी हाथी मनुष्य को दबाकर मारने को तत्पर है।

मनुष्य तृष्णाओं के अन्धकूप में कूद जाता है, परन्तु सर्परूपी बुढ़ापा एवं मृत्यु कुएँ के तल में उसे डसने को बैठी है। वह कुएँ की झाड़ी में लटककर जीवित रहना चाहता है परन्तु वह यह देख ही नहीं पा रहा है कि जिस झाड़ी से वह लटका है उसे दिन-रातरूपी कालचक्र के चूहे बराबर कुदरते ही जा रहे हैं। यही जीवन की जीविषा है। कब वह पेड़ टूट जाये, पता नहीं। शहद की बूँदें ही क्षणिक इन्द्रिय-सुख हैं जिनसे वह तृप्त नहीं होता। उन्हीं का रसास्वादन करते रहने को ही सबकुछ मानता है। इसी कारण करुणावान राहगीर की बात मानने को तैयार नहीं होता। वह राहगीर कोई और नहीं, बुद्ध हैं, जो भवरूपी अन्धकूप से निकलने की राह बताते हैं परन्तु मनुष्य इन्द्रिय-सुखों को ही सबकुछ मानकर दुःखों के दलदल में फँसता ही जाता है और बुद्ध के बताये मार्ग को नजरअन्दाज कर देता है, चलने की बात तो दूर रही। हम सबको बुद्ध ने शील, समाधि एवं प्रज्ञा का सीधा सरल मार्ग विपश्यना बताया है जो व्यक्ति को इन क्षणिक इन्द्रिय-सुखों के भ्रम से निकालकर नित्यानन्द को प्राप्त करा देता है। मनुष्य कुशल कार्य करे और बुरे कर्मों से बचे। जब चित्त निर्मल होगा तो

सद्गुणों से भरा रहेगा। मनुष्य के मन के विकार जैसे लोभ, मोह, लालच, क्रोध-अहंकार-वासना, ईर्ष्या-वैमनस्य, द्वेष एवं दुर्भावना में अनादिकाल से वैयक्तिक, सांस्कृतिक, सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न करते रहे हैं—का शमन हो जायेगा। क्षणिक इन्द्रिय सुख को हमें विकार मान कर विपश्यना पर चलना ही होगा। तभी दुःखों से विमुक्ति होगी। चलना तो हमें ही पड़ेगा।

(दैनिक जागरण, अप्रैल 18, 2002)

●

चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेनं संवरो।
घाणेन संवरो साधु, साधु जिह्वाय संवरो।
कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु, साधु सब्बथ संवरो।
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु, सब्बदुक्खा पमुच्यति।

आँख का संवर (संयम) भला है, भला है कान का संवर।
नाक का संवर भला है, भला है जीभ का संवर।
तन का संवर भला है, भला है वाणी का संवर।
मन का संवर भला है, भला है सर्वत्र संवर।
(मन और काया स्कन्ध में) सर्वत्र संवर रखने वाला भिक्षु (साधक) सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

7
विपश्यना ध्यान के परम साधक गुरुवर ऊ-बा खिन

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि मनुष्यों में कृतज्ञता और बिना किसी अपेक्षा के उपकार करने की पहल, यह दो सद्गुण दुर्लभ हैं। ये दोनों सद्गुण किसी भी धर्मप्रेमी व्यक्ति की धर्म-पथ पर प्रगति नापने के मापदण्ड हैं। परन्तु, इन दोनों में कृतज्ञता अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि किसी सन्त द्वारा हमारे प्रति निःस्वार्थ सेवा को जब याद करते हैं और मानस में स्वभावतः उसके प्रति कृतज्ञता के भाव जागते हैं तब उसके आदर्श को जीवन में उतारने के लिए हम भी निःस्वार्थ सेवा की ओर उन्मुख होते हैं। इस प्रकार कृतज्ञता और उपकार एक-दूसरे के सहायक बनते हैं।

म्याँमार (बर्मा) की जिस सन्त-परम्परा ने विपश्यना विद्या को पीढ़ी-दर-पीढ़ी सदियों तक सुरक्षित रखा, उसके वर्तमान समय के जाज्वल्यमान सितारे सयाजी ऊ- बा खिन थे। वे 72 वर्षों तक अपने धर्मपुत्रों, धर्मपुत्रियों को विपश्यना में परिपक्व करते रहे। वह इस परम्परा में दूसरे गृहस्थ विपश्यना आचार्य थे। उनके पहले वह विद्या केवल बर्मी भाषा-भाषियों एवं भिक्षुओं तक ही सीमित थी, परन्तु उनके अंग्रेजी ज्ञान के कारण यह विद्या विदेशियों को भी मिली। इसी परम्परा में श्री सत्यनारायणजी गोयनका हैं जिन्होंने अपने गुरुदेव के संकल्प एवं धर्म-कामनाओं को मूर्त्त रूप दिया है। सारे विश्व में लाखों की संख्या में साधक-साधिकाओं ने जिस परम्परा द्वारा सुरक्षित विपश्यना विद्या का लाभ उठाया है, वह सयाजी ऊ-बा खिन की कृपा के फलस्वरूप ही हुआ है। उनका यह दृढ़विश्वास था कि भारत ने सदियों से जो अनमोल विद्या खो दी थी, वह भगवान् बुद्ध के 2500 वर्षों बाद द्वितीय बुद्ध-शासन में भारत लौटेगी, भारत में दृढ़तापूर्वक स्थापित हो और फिर सारे विश्व में फैलेगी। इस समय भारत एवं विश्व में पूर्वजन्म की पुण्य पारमी ग्रहण किये हुए बहुत लोग जन्में हैं जो इस विद्या को सहर्ष स्वीकार करेंगे और लाभान्वित होंगे। वे बार-बार कहते थे कि अब समय पक गया है। विपश्यना का डंका बज गया है। अब इसके द्वारा होने वाले लोक-कल्याण को कोई रोक नहीं सकता। बर्मा द्वारा भारत का ऋण चुकाये जाने की कितनी ललक थी उनके मन में।

परन्तु किन्हीं कारणवश वह विदेश-यात्रा नहीं कर सके। उसी के परिणामस्वरूप लगभग 2000 वर्षों के अन्तराल के बाद 1969 में भारत की पुरातन विपश्यना धर्मगंगा अपने उद्गम-स्थान में लौट सकी। उनकी ओर से भारत का धर्मऋण चुकाने के लिए उनके प्रतिनिधिस्वरूप उनका धर्मपुत्र कल्याणमित्र सत्यनारायण गोयनका भारत आया। केवल यही नहीं बल्कि अनेक जन्मों के संगी-साथी इस कार्य में साथ हो लिये। सभी परम पूज्य गुरुदेव ऊ-बा खिन का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। विपुल विश्व-कल्याण करती हुई विपश्यना विद्या उनकी प्रबल मंगल मैत्री से जन-जन में फैल रही है।

उन युगपुरुष सयाजी ऊ-बा खिन की जन्म शताब्दी का यह पुनीत वर्ष अगली सहस्राब्दी में प्रवेश कर रहा है। पिछले तीन दशकों में यह कल्याणी विद्या केवल भारत की ही नहीं बल्कि विश्वभर की सभी परम्पराओं द्वारा स्वीकृत हुई है। यह देखकर यह अतिशयोक्ति नहीं लगता कि अगली सहस्राब्दी निसन्देह विपश्यना सहस्राब्दी होगी।

सयाजी ऊ-बा खिन का जन्म 6 मार्च 1899 में बर्मा की राजधानी रंगून में एक साधारण परिवार में हुआ था। एक वृद्ध सज्जन ने उन्हें आठ वर्ष की उम्र में मेथोडिस्ट मिडिल स्कूल में अंग्रेजी की शिक्षा के लिए भरती कराया। यह बहुत मेधावी छात्र साबित हुए। हर दर्जे में प्रथम होने के कारण उन्हें बराबर शिक्षा छात्रवृत्ति मिलती रही। उनकी पढ़ने की योग्यता देखकर एक बर्मी अध्यापक ने उन्हें सेण्ट पाल विद्यालय में भरती करा दिया जहाँ से उन्होंने 1917 में हाईस्कूल पास किया स्वर्ण पदक एवं आगे पढ़ने की छात्रवृत्ति के साथ। इसके बावजूद वह पारिवारिक कारणों से आगे नहीं पढ़ सके और शीघ्र ही उन्हें आजीविका कमाने के लिए बाध्य होना पड़ा। उन्हें पहली नौकरी 'सन' नामक अखबार में मिली। उसके बाद वह एक लिपिक के रूप में महाअभिलेखाकार के दफ्तर में नौकर हुए। 1926 में उन्होंने बर्मी अकाउण्ट सर्विस का इम्तहान पास किया और 1937 में जब बर्मा भारत से अलग हुआ तो वह ऑफिस सुपरिण्टेण्डेण्ट हो गये।

1 जनवरी 1937 को प्रथम बार उन्होंने एक गृहस्थ सन्त सयाजी थटग्यी से विपश्यना सीखी। उन्होंने प्रथम शिविर में जाने के लिए दफ्तर से छुट्टी माँगी परन्तु वह उन्हें नहीं मिली। उनमें पूर्वजन्म का विपश्यना का बीज था इसलिए छुट्टी की मंजूरी न मिलने पर भी शिविर में चले गये। दस दिनों बाद डरते-डरते दफ्तर पहुँचे। अपनी मेज पर एक बन्द लिफाफा पाकर उन्हें लगा कि लो

यह नौकरी से हटाने का फरमान मिल गया। उन्होंने जब लिफाफा खोला तो आश्चर्य का ठिकाना नहीं था। अरे, यह तो उनकी प्रोन्नति की सूचना है। वह महाअभिलेखाकार के दफ्तर में स्पेशल अधीक्षक बन गये। 1941 में वह अरहन्त बेबू सयाडा से मिले जो विपश्यना ध्यान में पारंगत थे। बेबू सयाडा ने उनकी विपश्यना ध्यान की विधि की जानकारी को आधिकारिक समझा और उन्हें विपश्यना सिखाने के लिए प्रोत्साहित किया। तब से वह निरन्तर 1971 में शरीर त्यागने तक यह विद्या सिखाते ही रहे। पहले यह साधना उन्होंने अपने दफ्तर में ही वहाँ के कर्मचारियों को सिखायी। 1948 में बर्मा ब्रिटिश शासन से आजाद हुआ। सरकारी दफ्तरों में बर्मीकरण प्रारम्भ हुआ। इस दौर में ऊ-बा खिन बर्मा के पहले बर्मी अकाउटेण्ट जनरल नियुक्त हुए और वह उस दफ्तर में फैला सारा भ्रष्टाचार विपश्यना के माध्यम से दूर करने में सफल हुए। उनकी यह सफलता देख उन्हें अन्य चार-चार महकमों का अध्यक्ष बनाया गया। वह सारी जिम्मेदारी निभाते हुए विपश्यना साधना भी सिखाते रहे। 1956 में बर्मी सरकार ने उन्हें 'थ्रे सिथू' की पदवी प्रदान की। 1967 में उन्होंने सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त किया। सरकारी काम के भारी बोझ के साथ विपश्यना सिखाते हुए वह अपने परिवार की देखरेख पूरी तन्यमता से करते रहे। उनके पाँच पुत्रियाँ और एक पुत्र थे। 1950 में उन्होंने विपश्यना संघ की स्थापना की और 1952 में उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय विपश्यना साधना-केन्द्र की स्थापना रंगून में की। 1954-56 के त्रिपिटक के छठे संगायतन की तैयारी में उन्होंने बहुत मदद की। छठे संगायतन की परियती कमेटी के वह अध्यक्ष भी थे। यूनियन ऑफ बर्मा बुद्ध शासन काउंसिल के भी वह जनक थे। वह आजन्म उसके आडिटर रहे।

वह केवल बुद्धवाणी के विद्वान् ही नहीं थे परन्तु उनका एक-एक शब्द अपनी अनुभूति पर उतारा हुआ था। उन्होंने बहुत कम ही भाषण दिये या लिखा, फिर भी विपश्यना के अन्तरराष्ट्रीय प्रसार की शुरुआत उन्होंने ही की। वह स्वयं कड़ा अनुशासन पालन करते थे और जो उनके केन्द्र पर विपश्यना सीखने आते थे, उनसे भी उन्हें यही अपेक्षा थी। बहुत कड़े दिखने वाले सयाजी का हृदय सदैव करुणा से द्रवित ही रहता था। सत्ता में रहते हुए भी वह बहुत सादगी से रहते थे। सरकारी सेवानिवृत्ति के बाद तक उनके पास अपना घर नहीं था। उनमें सब प्राणियों के प्रति असीम मैत्री-भाव था—उनके केन्द्र के साँप-बिच्छू भी उससे प्रभावित थे। आजतक वहाँ इन जीवों द्वारा किसी को कोई हानि नहीं हुई।

(आज, जनवरी 29, 2000)

8
विपश्यना के परमाचार्य : सत्यनारायणजी गोयनका
जन्म 1924-महाप्रयाण 2013

कल्याण मित्र श्री सत्यनारायण गोयनकाजी के पूर्वज व्यापार के लिए चुरू (राजस्थान) से उठकर 19वीं सदी में माण्डले (बर्मा) म्याँमार में बस गये थे। 1924 में वहीं उनका जन्म हुआ। जब गोयनकाजी 4-5 वर्ष के थे, तब परिवार के सारे सदस्य माण्डले (बर्मा) से अपने पूर्वजों की भूमि चुरू (राजस्थान) में किसी धार्मिक अनुष्ठान के लिए आये थे। उनके ताऊजी चुरू में खण्डहर हवेली के स्थान पर नयी हवेली-निर्माण के लिए चुरू रुक गये। बालक सत्यनारायण भी उन्हीं के साथ रुक गये। लगभग 6 महीनों तक उनकी शिक्षा वहीं की एक पाठशाला में हुई, जहाँ उन्हें पूर्ण वर्णमाला, बारहखड़ी, 100 तक गिनती एवं 10 तक पहाड़े और इसके बाद डेढ़, अढ़ाई एवं साढ़े तीन के पहाड़े याद करवा दिये गये, जो बाद में उनकी पढ़ाई में बहुत काम आये। 6 महीनों बाद माण्डले (बर्मा) के प्राइमरी स्कूल में भर्ती हुए। उन्होंने माण्डले के खालसा कॉलेज से हाईस्कूल किया। उनकी मेधावी प्रतिभा का आभास तभी लगने लगा था जब वह सारे बर्मा में प्रथम स्थान पर रहे। दसवीं परीक्षा के बाद वह घरेलू व्यापार में जुट गये। अपनी प्रतिभा एवं अध्यवसाय से वह बर्मा के प्रमुख व्यापारी एवं उद्योगपति बन गये। फिर क्या था, दिन-रात धन कमाने में और सामाजिक पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने में लगे रहे। हिन्दी से उन्हें विशेष लगाव था और वह वहाँ की अखिल ब्रह्मदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना एवं सारे ब्रह्मदेश में उसकी शाखाएँ स्थापित करने में लगे रहे। इसी के तत्वावधान में रंगून में हिन्दी कॉलेज की स्थापना की। हिन्दी साहित्य पर प्रति सप्ताह चर्चा होती थी। इण्डो-बर्मीज सांस्कृतिक केन्द्र की भी स्थापना, आपके एक अनाथालय की स्थापना एवं उनके संचालन का भार भी वे ही वहन करते थे। उनके पिताजी शिव और माँ कृष्णभक्त थीं। परिवार के वैष्णव संस्कारों का प्रभाव उन पर भी था। कम उम्र में ही गीता के अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम,

गोपालसहस्रनाम, शिवमहिमा एवं शिवताण्डवस्तोत्र कण्ठस्थ हो गये थे। गीता का पाठ रोज ही करते थे। क्योंकि बचपन से ही यह बताया गया था कि एक पाठ करने से एक जन्म के पाप कट जाते हैं। व्यापारिक एवं सामाजिक कार्यों के टेंशन से उन्हें अर्धकपाली (माइग्रेन) का रोग हो गया जिसका इलाज उन्होंने अपने देश एवं जापान, जर्मनी, स्विटजरलैंड, अमेरिका आदि में करवाया परन्तु कोई उनका रोग अच्छा नहीं कर पाया। उन्हें दर्द से निजात दिलाने के लिये मारफीन की सुई लगवानी पड़ती थी। उसके वह आदी होते जा रहे थे। इसी सिलसिले में वे अपने एक बर्मी मित्र जो बर्मा के हाईकोर्ट के जज थे, के बताने पर 1955 में रंगून में गृहस्थ, सन्त पूज्य ऊ-बा-खिन के सम्पर्क में आये। विपश्यना के पहले शिविर में जाने में बड़ी हिचकिचाहट थी। लेकिन पहले शिविर में ही निष्ठा पक्की हो गयी और माइग्रेन दर्द भी रफूचक्कर हो गया। विपश्यना साधना को सर्वथा निर्दोष पाकर उनके मन में यह एक इच्छा जागृत हुई कि बुद्धवाणी को भी पढ़कर देखा जाये, कहीं उसमें कोई प्रच्छन्न माया न छिपी हो। ज्यों-ज्यों बुद्धवाणी पढ़ी, त्यों-त्यों उसकी सर्वलोकहितकारिणी निश्चल शुद्धता अधिक से अधिक उजागर होती गयी। इसी बीच वह एक बार भारत आये और यहाँ के प्रसिद्ध आश्रमों में जो ध्यान सिखाने वाले धर्माचार्य थे उनसे मिले। उनसे मिलने पर तो वह विपश्यना साधना के कल्याणीरूप के विषय में और भी आश्वस्त हुए और उन्हें यह महसूस हुआ कि भारत इस विद्या को खोकर आध्यात्मिक क्षेत्र में निर्धन ही हुआ है। पूज्य गुरुवर सयाजी यूवाखिन के सान्निध्य में 14 वर्षों तक सक्रिय विपश्यना साधना और पुरातन मूल बुद्धवाणी के अभ्यास और अध्ययन से यह खूब समझ में आने लगा कि हमारे पूर्वजों ने कितनी नासमझी से एक बहुमूल्य रत्न खो दिया। उन्हें यह सोचकर अत्यन्त दुःखद आश्चर्य हुआ कि किस प्रकार देश के समस्त बुद्धिशाली वर्ग धीरे-धीरे इस चतुराई और दुष्प्रचार का शिकार होता गया और धोखे में आकर अपने देश की अनमोल सम्पदा से हाथ धो बैठा।

उनके गुरु सयाजी ऊ-बा-खिन ब्रह्मदेश को सदैव भारत का ऋणी मानते थे और उनकी यह प्रबल इच्छा थी कि भारत की मूल विद्या फिर भारत आये जहाँ उसके प्रचार व प्रसार के लिए समय पक गया है। गुरुवर सयाजी यूवाखिन ने 1969 में विधिवत् गोयनकाजी को आचार्य बनाया और अपना धर्मदूत बनाकर बुद्ध-शासन के निचोड़ विपश्यना विद्या को भारत में पुनः जागृत करने के लिए भेजा। अपने गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उनकी स्मृति

में उनकी सेन्टीनरी पर मुम्बई में 'ग्लोबल पगोड़ा' का निर्माण कराया। यह विश्व के नौवें आश्चर्य-सा है जिसके बिना किसी खम्भों के बने हास में 8000 साधक एक साथ साधना कर सकते हैं।

भारत के लिए गोयनकाजी के आने के पूर्व विपश्यना शब्द भी कोई नहीं जानता था। गोयनकाजी का पहला शिविर बम्बई की एक धर्मशाला में लगा, जिसमें उनके माता-पिता के अलावा 10 लोग थे। गोयनकाजी ने सारे देश में घूम-घूमकर 10, 20 एवं 30 दिवसीय शिविर लगाये। उनकी प्रेरणा से भारत एवं विदेशों में 61 स्थायी केन्द्र हैं और स्थान-स्थान पर अस्थायी शिविरों का आयोजन होता रहता है। भारत में ही नहीं, आज गोयनकाजी सारे विश्व में विपश्यना के सूत्रधार हैं। इस विद्या का प्रचार लगभग 90 देशों में हो गया। शील, समाधि एवं प्रज्ञा की त्रिवेणी की धार को दार्शनिक मान्यताएँ, परम्पराएँ एवं रूढ़ियों से आबद्ध मानसिकता बराबर रोड़े अटकाती रही हैं। फिर भी गोयनकाजी के भगीरथ प्रयासों से यह भारत में निरन्तर अग्रसर है। हजारों लोग शिविरों में खिंचे चले आ रहे हैं एवं लाभान्वित हो रहे हैं। इनमें स्त्री, पुरुष, हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख, ईसाई, कबीरपन्थी, मुसलमान सभी सम्प्रदायों के गृहस्थ भिक्षु-भिक्षुणियाँ, जैन साधु एवं साध्वी, मौलवी, ईसाई व फादर आदि विशिष्ट राज्याधिकारी एवं श्रेष्ठीजन भी हैं। समाज से तिरस्कृत क्षेत्रों एवं वर्गों जैसे कारागारों में, अन्ध विद्यालयों में, कुष्ठ आश्रमों में भी इस विद्या के अभ्यास से लाभ हुआ है और इसका प्रसार हो रहा है। नशे की लत को छुड़ाने में तो यह विद्या बहुत कारगर हुई है। विदेशों में ड्रग-डीएडिक्शन केन्द्रों पर इसके इस्तेमाल से लतों को छुड़ाने में कामयाबी मिली है। तनाव, चिन्ता, कुण्ठा, बेचैनी आदि एवं मनोजन्य रोग जैसे अर्द्धकपाली, दमा, अल्सरेटिव कोलाइटिस, ब्लडप्रेशर, न्यूरो डरमेटाइटिस आदि रोग इस साधना को करने से अपने आप ठीक होने लगते हैं। गोयनकाजी को समय-समय पर विभिन्न सम्मानों एवं उपाधियों से विभूषित किया गया है।

इन सबके बावजूद गोयनकाजी अत्यन्त सरल व्यक्ति हैं, उनसे मिलकर आत्मीयता का भाव जागता है और कभी वह प्रतीत नहीं होने देते कि वह इतने विद्वान् एवं जीवनमुक्त साधक हैं। साधारण से साधारण और विद्वान् से विद्वान् उनसे कुछ प्राप्त ही करके आता है। वे क्षण-क्षण का प्रयोग लोक-कल्याण के लिए करते हैं। उनके नेतृत्व में धार्मिक, वैचारिक एवं सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात हो रहा है जो पूर्णरूपेण मानवतावादी है। वह विवादों से दूर ही रहते हैं। गोयनकाजी

ने सम्प्रदायों (धर्म) के शब्द-जाल में उलझे मानव की अतृप्त मानवीय चेतना की प्यास बुझाने वाली धर्मगंगा का निर्मल एवं शीतल जल उपलब्ध कराया है। जो व्यक्ति भी विपश्यना करे वह अनुभूतिपरक धर्म का साक्षात्कार कर सकता है।

गोयनकाजी पालि एवं बुद्धवाणी के महापण्डित ही नहीं हैं, वरन् उन्होंने बुद्धवाणी को अनुभूति पर उतारा है। उसके एक-एक शब्द का सही मतलब समझा है। उन्होंने बुद्ध की भाँति बोलचाल की भाषा हिन्दी में बुद्धवाणी का प्रमाणित रूपान्तर किया है। त्रिपिटक, उसकी अर्थ कक्षाएँ एवं अनुटीकाओं को देवनागरी लिपि में उपलब्ध कराना उनका ही कार्य है। उनकी अनेक पुस्तकें विपश्यना विशोधन विन्यास से प्रकाशित हो चुकी हैं। वह आशुकवि भी हैं। अपनी मातृभाषा मारवाड़ी एवं हिन्दी में उनके दोहे धर्म के स्वरूप को अत्यन्त हृदयग्राही एवं सरल रूप से प्रस्तुत करते हैं। जब वह इन दोहों को स्वयं गाते हैं तो उनकी वाणी का प्रभाव हृदय को छूता है। अंग्रेजी, बर्मी, हिन्दी, पालि, प्राकृत, संस्कृत भाषाओं में गोयनकाजी विपश्यीसाधकों के गुरुजी कहलाते हैं और उनकी पत्नी श्रीमती इलायची देवी माताजी। उनका भरा-पूरा परिवार है। परन्तु गोयनकाजी सपत्नीक इगतपुरी आश्रम पर ही रहते हैं। सारे केन्द्रों और देश-विदेशों में आवश्यक कार्यों से साल में लगभग 9 माह यात्रा पर ही रहते हैं। देश की सारी चारित्रिक एवं सामाजिक बुराइयों एवं भ्रष्टाचार-निवारण के लिए विपश्यना ध्यान विशेष आजमायी हुई विद्या है। इसीलिए गोयनकाजी बालकों, नवयुवकों, नवयुवतियों को जो इस देश के भविष्य हैं, विपश्यना ध्यान सिखाने पर जोर देते हैं। त्वरित एवं उपभोक्तावादी संस्कृति एवं इनफॉरमेशन टेक्नोलॉजी का प्रभाव एवं सुविधाभोगी मानसिकता ने नवयुवकों को दिग्भ्रमित कर रखा है। यदि वे विपश्यना ध्यान करें तो वह न केवल अपनी पुरानी संस्कृति से जुड़ेंगे वरन् उन्हें नयी हवाओं एवं टेक्नोलॉजी के प्रभाव का सही मूल्यांकन कर उसे आत्मसात् कर सकेंगे।

इसीलिए युवा पीढ़ी को सही राह पर लाने के लिए हर विद्यालय एवं विश्वविद्यालयों में विपश्यना केन्द्र बनने चाहिये जिससे इच्छुक प्रशिक्षु आसानी से इस विद्या को सीखकर अभ्यास कर सके और अपना चरित्र-निर्माण कर सके। गोयनकाजी को बर्मा, सीलोन, थाईलैण्ड, तथा अन्य देशों से विशेष अलंकरण, 2013 में भारत सरकार ने उन्हें पद्मभूषण से सुशोभित किया। गोयनकाजी ने सितम्बर 2013 को स्वेच्छा से अपना शरीर त्याग दिया।

(गाण्डीव, नवम्बर 12, 1999)

11

बुद्ध, धर्म एवं संघ के विषय पर राजकुमारी चुन्दी के प्रश्न

बुद्धकाल में मगध के सम्राट् महाराज बिम्बिसार की सन्तानों में से राजकुमार चुन्द एवं उसकी बहन चुन्दी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अपने पिता के कारण ही राजकुमार चुन्द भगवान् बुद्ध, की ओर झुका होगा। उसने भगवान् बुद्ध से सुना कि जो व्यक्ति बुद्ध धर्म और संघ के प्रति श्रद्धालु होता है और पञ्चशीलों का पालन करता है, उसकी सद्गति निश्चित है।

राजकुमार चुन्द ने अपनी बहन राजकुमारी चुन्दी को भगवान् का यह वक्तव्य कह सुनाया। पहली बार सुनने पर किसी के मन में यह भाव जाग सकता है कि यह अन्धविश्वास से भरा साम्प्रदायिक वक्तव्य है। भला बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति श्रद्धा रखने से क्यों सद्गति हो, अन्यों के प्रति रखने से क्यों नहीं हो? राजकुमारी चुन्दी के मन में भी इसी प्रकार का प्रश्न कुलबुलाया होगा और इसका स्पष्टीकरण पाने के लिए वह भगवान् बुद्ध के पास गयी।

भगवान् बुद्ध उन दिनों राजगृह के वेणुवन के कलन्दकनिवाप में विहार कर रहे थे। यह वही वेणुवन है, जिसे महाराज बिम्बिसार ने बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को विहार के लिए दान दिया था। यहाँ गिलहरियों की बहुतायत थी और उन्हें जीवनदान मिला हुआ था। अतः इस विहार का नाम कलन्दकनिवाप पड़ा। राजकुमारी चुन्दी भगवान् से मिलने अकेली नहीं गयी, वरन् वह नगर की पाँच सौ हमउम्र सहेलियों को राजरथों पर सवार कराकर अपने साथ ले गयी। सम्भवतः यह उन दिनों के सम्मान-प्रदर्शन का एक तरीका था। बुद्ध के प्रति इस प्रकार का सम्मान-प्रदर्शन हम बुद्धवाणी में अन्यत्र भी देखते हैं।

राजकुमारी चुन्दी भगवान् बुद्ध के पास पहुँचकर, उन्हें नमन कर एक ओर बैठ गयी। तब उसने भगवान् से कहा—भन्ते भगवान्। मैंने अपने भाई राजकुमार चुन्द से सुना है कि कोई नर या नारी बुद्ध की शरण, धर्म की शरण तथा संघ की शरण ग्रहण कर सकता है और हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ तथा

मादक पदार्थों के सेवन से विरत रहता है तो वह शरीर छूटने पर सुगति- लाभी होता है, दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। वह आगे पूछती है—कोई व्यक्ति शास्ता के प्रति श्रद्धालु होने, धर्म के प्रति श्रद्धालु होने, संघ के प्रति श्रद्धालु होने से सुगति को ही क्यों प्राप्त होता है, दुर्गति को क्यों नहीं?

बुद्ध के प्रति श्रद्धा—भगवान् बुद्ध ने समझाया कि तथागत सम्यक् सम्बुद्ध सभी प्राणियों में श्रेष्ठ होते हैं। जो भी सम्यक् सम्बुद्ध होगा वह श्रेष्ठतम यानी अग्र होगा ही। अतः अग्र के प्रति श्रद्धालु होने का फल भी अग्र यानी सर्वश्रेष्ठ ही मिलता है। वस्तुतः सम्यक् सम्बुद्ध के प्रति श्रद्धालु होने का अर्थ हुआ उनके बताये मार्ग पर चलना। उनका बताया मार्ग श्रेष्ठतम मुक्ति का मार्ग है। इसलिए उस पर चलते हुए श्रेष्ठतम फल प्राप्त करना भी स्वाभाविक है। बुद्ध जैसे अग्र के प्रति श्रद्धालु होने का अर्थ अन्ध-श्रद्धा में डूब जाना नहीं है। भक्ति के भावावेश में यह आशा करने लगे कि बुद्ध मेरी दुर्गति नहीं होने देंगे, बुद्ध मुझे सद्गति देंगे, मुक्ति देंगे, ऐसी अन्ध-भक्ति में डूबा व्यक्ति बुद्ध का सही श्रद्धालु नहीं होता। बुद्ध का सही श्रद्धालु हो तो बुद्ध के द्वारा सुआख्यात धर्म जाने, समझे और उसे अपनी अनुभूति पर उतारे। तभी कहा गया है कि जो अग्र के प्रति श्रद्धालु होता है, तो वह अग्र धर्म के जानकार के प्रति श्रद्धालु होता है।

कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से बुद्ध होता है। वह किसी सम्पद्राय से नहीं जुड़ा होता। अपनी ही पारमिताओं से, त्याग-तपस्या और संयम से जुड़ा होता है। बुद्धत्व किसी सम्प्रदायविशेष का एकाधिकार नहीं होता। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति जीवन में किसी भी बुद्ध के सम्पर्क में न आवे, न किसी बुद्ध का उपदेश सुने, फिर भी अपनी समझदारी से शील, समाधि और प्रज्ञा वाले शुद्ध धर्म के रास्ते चले और बुद्ध बन जाये, शुद्ध बन जाये, मुक्त बन जाये। अतः बुद्ध का सम्प्रदाय से कोई वास्ता नहीं होता। बुद्ध न किसी सम्प्रदाय की स्थापना करता है और न किसी स्थापित सम्प्रदाय से जुड़ता है, न औरों को किसी स्थापित सम्प्रदाय से जोड़ता है। वह स्वयं धर्म से जुड़ा होता है और लोगों को भी केवल धर्म से जोड़ता है। बुद्धं शरणं का अर्थ भक्ति के भावावेश में हम यह समझते हैं कि कोई बादलों के ऊपर बैठा बुद्ध नाम का व्यक्ति हमें शरण देगा, हमें तार देगा, परन्तु ऐसा नहीं है। बुद्ध द्वारा बताये गये मार्ग पर चलकर हम अपनी बोधि जगाये वही हमें शरण देगी। कोई दूसरा शरण देने वाला नहीं है। बुद्ध जैसे व्यक्ति के प्रति श्रद्धालु होने का अर्थ अन्ध-श्रद्धा में डूब जाना नहीं है।

धर्म के प्रति श्रद्धा—फिर धर्म के बारे में उन्होंने राजकुमारी को समझाया कि ऐन्द्रिक जगत् की सच्चाइयों का धर्म हो या इन्द्रियातीत सच्चाई का, इन सबमें वीतरागता ही सर्वश्रेष्ठ है, अतः अग्र है। वीतरागता, व्यक्ति के अहंकार से भरे मन का मर्दन करती है, सारी आसक्तियों का उत्खनन करती है, सारी प्यास बुझाती है, भवचक्र का मूलोच्छेद करती है, तृष्णा का क्षय करती है, उसके प्रति विराग करती है और निरोध की अवस्था तक पहुँचाती है, जिससे निर्वाण का साक्षात्कार हो जाता है। ऐसी वीतरागता के धर्म पर जिसकी श्रद्धा है, उसकी सर्वश्रेष्ठ पर यानी अग्र के प्रति जो श्रद्धालु होता है, उसे अग्रफल की ही उपलब्धि होती है।

अग्र धर्म के प्रति श्रद्धालु होता है, तो वीतरागता के प्रति श्रद्धालु होता है, विकारों के उपशयन के प्रति श्रद्धालु होता है, परमसुख निर्वाण के प्रति श्रद्धालु होता है। श्रद्धालु होगा तो ही उन्हें धारण करने के लिए प्रयत्नशील होगा।

वीतरागता का धर्म क्यों? इसलिए कि राग रहेगा तो बन्दी रहेगा ही, दुःखी रहेगा ही, भले अपने आपको चाहे जिस साम्प्रदायिक नाम से पुकारे। राग छूट जावेगा तो बन्धनमुक्त हो ही जावेगा, दुःखमुक्त हो ही जावेगा, भले अपने आपको जिस नाम से पुकारे। वीतरागता किसी एक सम्प्रदाय की बपौती नहीं है। यह तो जो धारे उसी का धर्म है। उसी के लिए कल्याणप्रद है। इसी माने में वीतरागता का धर्म सार्वभौम है।

संघ के प्रति श्रद्धा—जितने संघ या गण हैं, उनमें तथागत का श्रावक संघ सबसे श्रेष्ठ है यानी अग्र कहलाता है। तथागत का श्रावक संघ वही है, जो स्रोतापन्न है अथवा सगदागामी अथा अनागामी या अरिहन्त है। जो इन चारों आर्यों में से एक भी नहीं, वह भगवान् का श्रावक संघ नहीं है। आर्य है इसीलिए आवाहन करने योग्य है, आतिथ्य करने योग्य है, आदर करने योग्य है, हाथ जोड़कर नमस्कार करने योग्य है, वह दानियों के लिए सर्वश्रेष्ठ पुण्य क्षेत्र है। जो ऐसे संघ के प्रति श्रद्धालु होता है वह सर्वश्रेष्ठ यानी अग्र के प्रति श्रद्धालु होता है। जो अग्र के प्रति श्रद्धालु होता है उसे अग्रफल की ही प्राप्ति होती है जिससे इसी जीवन में लोकीय फल मिलता है, जैसे दीर्घायु, प्रसिद्धि, यश, कीर्ति, सुख और बल। ऐसा दानी जब अग्र धर्म में समाहित होता है तो देह छूटने पर देवता होता है या मनुष्य और धर्म के रास्ते चलते रहकर अग्र धर्म निर्वाण को प्राप्त कर प्रमुदित होता है।

संघ भी किसी सम्प्रदायविशेष के गृहत्यागियों के समूह को नहीं कहा

जाता। जो आर्य हो गये हैं वही सही माने में संघ है। अनार्य से आर्य बन गये यानी कम से कम श्रोतापन्न हो ही गये तो ही आर्य हुए अन्यथा नहीं। श्रोतापन्न होता है तो मरने पर दुर्गति से बच जाता है, क्योंकि उसकी अपाय (नीची) गतियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। ऐसा व्यक्ति किसी की कृपा से आर्य नहीं बन जाता। अपने ही पुरुषार्थ से बनता है। कोई किसी को मार्ग भले ही दिखा दे पर किसी को तार नहीं सकता। यदि तारक होने का दावा करे तो सम्प्रदाय बन ही जायेगा, न धर्म सार्वजनीन रहेगा न संघ सम्प्रदाय-मुक्त रहेगा।

शील-पालन के प्रति जागरूकता एवं श्रद्धा—जितने शील हैं, उनमें आर्यशील ही अग्र कहलाते हैं। वह शील जिनके पालन से व्यक्ति आर्य बन जाता है। ऐसे शील जो अखण्डित हैं, अछिद्र हैं, बेदाग हैं, निष्कलंक हैं, निर्मल हैं,जो समझदारों द्वारा प्रशंसित हैं, जिनके प्रति कोई आसक्ति नहीं जागती। किसी भी एक शील के प्रति आसक्ति जग जाये तो अन्य शीलों की अवहेलना होगी और उसके आगे समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास छूट जावेगा। आसक्ति नहीं होती है तो ये शील समाधि की परिपूर्णता में सहायक होते हैं। इस प्रकार शीलवान व्यक्ति आर्य बनता है। ऐसे आर्य बनाने वाले शीलों को जो परिपूर्ण करता है, वह अग्र को परिपूर्ण करता है। उसे अग्रफल की ही उपलब्धि होती है। शुद्ध शील का पालन इसलिए किया जाता है कि उसके बल पर सम्यक् समाधि (मन को वश में करके उसकी एकाग्रता) पुष्ट कर ले और प्रज्ञा के आधार पर निर्वाण का साक्षात्कार कर ले तथा आर्य बन जावे। इससे सद्गति स्वतः निश्चित हो जाती है।

इस प्रकार राजकुमारी चुन्दी को साम्प्रदायिकताविहीन सार्वजनीन सनातन धर्म की शिक्षा दी गयी। जब कोई बुद्ध की शरण जाता है तो परम ज्ञानी की शरण जाता है, अज्ञानी की नहीं। जब धर्म की शरण जाता है तो सनातन सत्य की शरण जाता है, काल्पनिक मिथ्यात्व की नहीं। जब संघ की शरण जाता है तो विमुक्त सन्तों की शरण जाता है, भवचक्र में आबद्ध असन्तों की नहीं। जब सम्यक् समाधि, प्रज्ञा और विमुक्त की ओर ले जाने वाले शील की शरण जाता है, दूषित दुराचार की नहीं। ऐसा व्यक्ति सद्गतिपरायण ही होता है, दुर्गतिपरायण नहीं। धर्म को समझने के लिए और उसे पालन करने के लिए आज भी यह शिक्षा कितनी सार्थक है।

●

10

मन को वश में करने के लिए शीलों का पालन

गौतम बुद्ध 'मन' के अप्रतिम एवं सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक हुए हैं। उन्होंने मन को सभी चीजों का केन्द्र-बिन्दु स्वीकार किया है। मन चीजों का पूर्वगामी है। मन ही सब पर प्रभाव डालता है और वह उन्हें उत्पन्न करता है। मन चैतिसिक क्रियाओं से उत्पन्न होता है और मन ही मानसिक क्रियाओं में प्रधान है। मन ही सब भलाई-बुराइयों का स्रोत है। भलाई-बुराई सब मन के भीतर ही उत्पन्न होती है। जो कुछ भी बुराई है या जिसका बुराई से सम्बन्ध है या जो बुराई से समन्वित है, वह सब मन की ही उपज है। मनुष्य बुरे मन से जो कुछ भी बोलता या करता है तो दुःख उसके पीछे-पीछे ऐसे लग जाता है जैसे गाड़ी के पहिये गाड़ी को खींचने वाले बैलों के पीछे-पीछे चलते रहते हैं। यदि मन वश में है तो सबकुछ काबू में है। हम जिस किसी दिशा में अपने मन को ले जाना चाहें, उसे उसी दिशा में ले जा सकते हैं। मन ही है जो हमें जीवनरूपी कारागर का कैदी बनाता है और बनाये रखता है। यदि इसने आदमी को राग-द्वेष के बन्धन में बाँधा है तो यह बन्धनमुक्त भी कर सकता है। मन में उपजे विकार—लोभ, हिंसा, मात्सर्य, भय, ईर्ष्या, अहंकार, वासना एवं तृष्णा आदि ही बन्धन हैं। निर्मल चित्त वही है जहाँ विकार न हों। चित्त को निर्मल रखने के लिए भगवान् ने विपश्यना ध्यान की प्रक्रिया बतायी।

हर व्यक्ति के लिए जीवन का कोई मापदण्ड होना चाहिये जिससे वह अपनी अच्छाई-बुराई माप सके। भगवान् बुद्ध के अनुसार पाँच शीलों का पालन ही वह मापदण्ड है। जिनके जीवन में कोई मापदण्ड नहीं होता, वह पतित होने पर भी यह नहीं जानता कि वह पतित है, इसलिए वह सदैव पतित ही रहता है। इसके विपरीत जो जानता है कि इन शिक्षाओं के पालन में वह खरा नहीं उतरेगा तो वह प्रयास करता है कि वह सुधार करे और पतित अवस्था से ऊपर उठे। जीवन-सुधार के लिए किसी मापदण्ड होने, न होने में यह बड़ा अन्तर

है। आदमी अपने स्तर से गिर पड़े यह इतनी बड़ी बात नहीं है जितनी कि जीवन का कोई स्तर ही न हो। व्यक्ति अपने से यह प्रश्न पूछे कि शीलों का पालन करना अपने लिए एवं समाज के लिए कल्याणकारी है? यदि इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक है तो इसका सीधा परिणाम है कि उस पर आचरण करें।

इनके आचरण करने में लोभ, मोह, अहंकार आदि कलुष बाधा उत्पन्न करते हैं। इसके लिए हमें सही दृष्टिकोण को ही अपनाना पड़ेगा। इसी को भगवान् से सम्यक्दृष्टि कहा है। मनुष्य को बोध होना चाहिये कि वह इस संसाररूपी कारागार में एक कैदी है। इस कारागार में इतना अन्धकार है कि यहाँ कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता। कैदी को यह भी नहीं मालूम पड़ता कि वह कैदी है। अन्धेरी कोठरी में रहते-रहते वह एकदम दृष्टिहीन हो गया है। उसे प्रकाश नाम की कोई चीज कभी या कहीं हो सकती है, इसमें भी सन्देह होता है। इन कैदियों के दिमाग की ऐसी अवस्था भी नहीं है कि वह प्रकाश की प्राप्ति का उद्देश्य भी समझ सकें। मन ही एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से प्रकाश की नन्हीं किरण का भान हो सकता है। प्रकाश की एक किरण ही अन्धकार का बोध करा देती है, अतएव कैदी की दशा इतनी निराशाजनक नहीं है, जितनी प्रतीत होती है। आदमी के पास आँखें हैं, दिमाग है, बल है और संकल्प-शक्ति है जिन्हें क्रियाशील बनाकर और उसका सम्यक् संचालन कर वह प्रकाश की ओर अग्रसर होकर अन्ततोगत्वा बन्धनमुक्त हो सकता है। सम्यक् दृष्टिकोण यही है कि मनरूपी कारागार के बन्धनों से उत्पन्न दुःख को जान सके और उसके निरोध का उपाय जान सके एवं उन पर व्यक्ति आचरण करे। यह भी समझता रहे कि कोई भी बात प्रकृति के नियमों के विरुद्ध नहीं घट सकती। सम्यक्दृष्टि यह भी है कि आदमी सब कल्पनाजन्य मिथ्या धारणाओं से, जिनका यथार्थ एवं अनुभव से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, विरत रहे। जब यह सम्यक्दृष्टि जागेगी तभी मनुष्य अच्छा बनने का प्रयास करेगा। अच्छा बनने के लिए सम्यक्वाणी को अपनाना पड़ेगा। आदमी सत्य ही बोले, असत्य न बोले। दूसरों की बुराई न करे, चुगली न करे और उनके विषय में झूठी बातें न फैलाये। किसी के प्रति गाली-गलौज एवं कठोर वचनों का प्रयोग न करे। व्यर्थ, बेमतलब, मूर्खतापूर्ण बातें न करे। सभी के प्रति विनम्र एवं प्रियवाणी का ही उपयोग करे। वाणी बुद्धिसंगत हो, सार्थक हो और सोद्देश्य हो। जो वाणी न किसी के भय से, न किसी व्यक्तिगत हानि-लाभ के लिए बोली जाती है, वही सम्यक् है।

किसी की हत्या न करना, चोरी न करना, व्यभिचार से विरत रहना और किसी प्रकार का नशा न करना योग्य व्यवहार की शिक्षाएँ हैं जो नैतिकता का आधार हैं। हमारा हर कार्य ऐसा हो जो दूसरों की भावनाओं और अधिकारों का ध्यान रखे। आदमी के जो कार्य इन नियमों से समन्वय रखते हैं, उन्हें ही सम्यक् कर्म समझना चाहिये।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका कमानी होती है। जीविका कमाने के कुछ ढंगों में कुछ बुरे और कुछ भले होते हैं। बुरे ढंग वे हैं जिनसे दूसरों की हानि होती है यथा—नशीली चीजों का व्यापार, मांस का व्यापार, गोली-बन्दूक का व्यापार आदि। अच्छे ढंग वे हैं जो बिना किसी को हानि पहुँचाये अथवा बिना किसी के साथ अन्याय किये हुए जीविकोपार्जन करना है। यह ध्यान रखें कि जिससे हमें आमदनी होती है, उसे धोखा न दें। जुआ या लॉटरी से धन न कमायें। झूठ बोल किसी को ठगें नहीं। रिश्वत में धन न कमायें। जिस काम के लिए नौकर रखा गया है, उसे भरपूर करना (कामचोर नहीं होना) चाहिये। कम तौलकर मुनाफा न कमायें। खाद्यान्नों या अन्य पदार्थों में मिलावट न करें। सैम्पल कुछ दिखाया और माल दूसरा दिया, ऐसा न करें। यही सम्यक् आजीविका है।

मन में उठने वाली कुशल एवं अकुशल वृत्तियों का सतत निरीक्षण करते रहने को ही मन का व्यायाम कहा जाता है। ऐसा करने से दूषित चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होने पर रोक लगायी जा सकती है और जो उत्पन्न हो गयी हैं, उन्हें निकालने का प्रयास हो सकता है। जो कुशल या अच्छी चित्तवृत्तियाँ हैं उन्हें बढ़ाना चाहिये और जो सद्गुण हममें नहीं हैं, उन्हें उत्पन्न करना चाहिये। यही मन का व्यायाम है और अविद्या को नाश करने की पहली सीढ़ी।

यह करना तभी सम्भव है जब मन सतत जागरूक रहे। मन में जो भी अकुशल विचार उठते हैं, उनकी चौकीदारी करता रहे। वर्तमान के प्रति जितने हम सजग हैं, उतने ही स्मृतिवान हैं। वर्तमान के प्रति हर क्षण की सजगता शरीर में होने वाली संवेदनाओं से जुड़ी हो तो वह सम्यक् मन की सतत जागरूकता चित्त की एकाग्रता पर निर्भर है। चित्त की एकाग्रता को ही समाधि कहते हैं। समाधि और सम्यक्समाधि में बड़ा अन्तर है। खाली समाधि एक नकारात्मक स्थिति है क्योंकि यह लोभ, द्वेष, असत्य, संशय एवं अनिश्चितता आदि बाधाओं को अस्थायी तौर पर ही स्थगित रखती है। इसमें मन का स्थायी परिवर्तन निहित नहीं है। सम्यक्समाधि एक भावात्मक स्थिति है जो कुशल कर्मों की एकाग्रता के साथ मन को निर्मल करने का अभ्यास डालती है और राग-द्वेषात्मक

अकुशल कर्मों की ओर आकर्षित होने की प्रवृत्ति को ही समाप्त कर देती है। सम्यक्समाधि मन को अपेक्षित शक्ति देती है जो कुशल ही कुशल सोचने और करने की आदत डालती है। भगवान् बुद्ध ने सम्यक्समाधि के लिए सार्वजनिक, सतत रहने वाली साँस को शुद्ध आलम्बन दिया जो मन को निर्मल करता है।

जब हमारा दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है तो हमारी आशाएँ-आकांक्षाएँ द्वेषविहीन, हिंसाविहीन, निष्काम एवं वैराग्यपूर्ण तथा कुशल हों, ऐसा संकल्प मन में जगता है। दूषित या अकुशल संकल्प मन में जागे तो उन्हें जानते रहें और उसके प्रति कोई प्रतिक्रिया न करें। ऐसा करने पर वह अपने आप समाप्त हो जायेगा। फिर केवल अच्छे विचार ही आते हैं। इनसे भी कोई चिपकाव नहीं होना चाहिये।

यही सम्यक्संकल्प है। मन को वश में करने के लिए शीलों का पालन जरूरी है। पंचशीलों के पालन के लिए सम्यक्समाधि आवश्यक है और सम्यक्समाधि के लिए प्रज्ञा या ज्ञान जगाना अतिआवश्यक है, तभी मनुष्य अच्छा बन सकता है। यही भगवान् बुद्ध का सन्देश है। यही प्रकाश की किरण है जो सर्वत्र व्याप्त अन्धकार को दूर कर सकती है।

(आज, नवमबर 6, 2004)

●

11

पंचशील की प्रासंगिकता

आज जबकि हर व्यक्ति की कथनी-करनी में अन्तर हो और जनता किंकर्तव्यविमूढ़ होकर एकदम विवश एवं असहाय हो गयी हो तो प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होता है कि वह सोचे कि इससे कैसे उबरा जाय? या फिर देश को समय की लहरों पर ऐसे ही डूबने दिया जाय और हम स्वतन्त्रता संग्राम की हुतात्माओं के बलिदान एवं सपनों को भूल जायें और हम फिर परतन्त्र हो जायें? वैचारिक क्रान्ति की आवश्यकता के साथ यह भी जरूरी है कि हर व्यक्ति अपने अन्दर झाँककर देखे कि उसने समाज और देश के प्रति क्या किया है? मूक दर्शक बने रहना भी भ्रष्टाचार को बढ़ावा देना है। यह स्थिति तब तक नहीं सुधर सकती जब तक हर व्यक्ति न सुधरे, परिवार न सुधरे और समाज न सुधरे।

गीता का 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युथानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्'।। याद आता है। जब अधर्म की वृद्धि हो रही हो तो हर व्यक्ति के हृदय में जब तक दूषित वृत्ति के सृजन करने वाला काम, क्रोध, लोभादि दुष्कृताम् हैं, उनके विनाश के लिए युग-युग में मैं अवतरित होता हूँ। यह अवतार जब तक हर व्यक्ति के हृदय में नहीं होता, तब तक कल्याण नहीं है। इस अवतार के होने का महत्वपूर्ण एवं पहला चरण है हर व्यक्ति द्वारा पंचशील का पालन। हिंसा से विरत रहना, चोरी न करना, झूठ न बोलना, व्यभिचार न करना एवं नशा-पत्ता न करना ही पंचशील है।

शील-सदाचार की नींव पर समाज बना, बढ़ा एवं संगठित हुआ। इनके तिरस्कार से ही हम इस दुर्दशा में पहुँचे हैं और इनके पालन से हम उबर सकते हैं। समझें, किस प्रकार आदिमकाल में यह बने और समयानुसार परिष्कृत होते गये। जब इन्हें हम समझेंगे तो उन्हें पालन करने में कठिनाई नहीं होगी।

बहुत पुरानी बात है, मानव-समाज जब इधर-उधर भटकते हुए जंगलों में पशुओं को मारकर जीवनयापन करते हुए आगे बढ़ा तो पशु चराने लगा।

एक स्थान से दूसरे स्थान भटकता रहा। यों सदियों तक खानाबदोश का जीवन जीता रहा। एक अवस्था ऐसी आयी जब उसकी समझ में यह आया कि धरती से अन्न भी उपजता है। धरती माता की बड़ी कृपा होती है। जरा-सी मेहनत करें तो यह अन्न देती है। इन्द्र महाराज भी बड़ी कृपा करते हैं, हमें जल देते हैं। इन दोनों की कृपा से हमें अन्न मिलता है। हम एक साथ मिलकर मेहनत करें तो धरती माता से अन्न पैदा कर लेंगे। हम वह अन्न खायेंगे और अच्छा जीवन जीयेंगे। काम शुरू हुआ। सबने मिलकर खेती शुरू की। धीरे-धीरे गाँव बसे। यह बात बहुत पुराने जमाने की है। उस जमाने में सारी धरती एक समाज की थी, किसी व्यक्ति की नहीं। सब मिलकर काम करते थे और जो उपजता था उसे सब मिल-बैठकर बाँट लेते थे। शान्ति का जीवन था।

कुछ समय तो ऐसे ही चला। लेकिन मनुष्य का स्वभाव तो मनुष्य का स्वभाव। धीरे-धीरे लोग सोचने लगे, जो उपजेगा वह तो बँटवारे में मिल ही जायेगा, हम मेहनत क्यों करें, दूसरे लोग मेहनत कर ही रहे हैं। जब फसल आयेगी तो हमें सारा हिस्सा मिल ही जायेगा। औरों को ही मेहनत करने दो। मेहनत तो करें नहीं परन्तु उन्हें अपना हिस्सा चाहिये। जो आदमी काम न करे, निठल्ला बैठा है, वह क्या करे? कुछ उत्पात ही करेगा, कुछ उपद्रव ही करेगा। इस तरह बात बिगड़ने लगी। तब समझदार लोगों ने सोचा कि जमीन का बँटवारा कर दिया जाय। हर आदमी अपनी जमीन पर खुद मेहनत करके अन्न उपजायेगा और उसके यहाँ जो अन्न होगा, वही खायेगा। जितनी मेहनत करेगा, उतना ही उसे फल मिलेगा। समाज एक कदम आगे बढ़ा।

फिर भी जिनको निठल्ले रहने की आदत पड़ गयी, आराम में रहने की आदत पड़ गयी, आलस्य की आदत पड़ गयी, वे अब भी काम नहीं करते थे। काम नहीं किया तो उनके अपने खेत में कुछ नहीं उपजा, पड़ोस के खेत में बहुत उपजा। अब यह निठल्ले व्यक्ति क्या करें? वे चोरी करने लगे, डाके डालने लगे। अपने पास नहीं तो औरों का छीनने लगे।. लोगों ने कहा यह बुरी बात है। तुम काम नहीं करते और हमारा हक छीनते हो। तो लड़ाई होने लगी। हत्याएँ होने लगीं। समाज का धर्म बिगड़ने लगा। समाज की व्यवस्था बिगड़ने लगी। निकम्मा पुरुष, निकम्मी नारी क्या करे? कहीं जाकर कोई दुष्कर्म ही करेगा, व्यभिचार भी होने लगां। परिवार की व्यवस्था बिगड़ने लगी। बात आगे बढी तो झूठ बोलने लगे कि मैंने ऐसा नहीं किया, दूसरा व्यक्ति झूठ बोलता है। जिन्होंने नहीं किया उसकी चुगली करने लगे, उसकी निन्दा करने लगे। तब

समाज को एक व्यवस्था बनानी पड़ी। लोगों ने इकट्ठे होकर एक व्यक्ति को अपना शासक चुना। इस देश का जो पहला शासक चुना गया उसका नाम महासम्मत रखा गया। सबकी सम्पत्ति से यह हमारा शासक चुना गया है। हम जो उपजायेंगे, उसका एक हिस्सा इसे देंगे ताकि इस हिस्से से जो आमदनी होगी उससे वह व्यवस्था करेगा। समाज में व्यवस्था होनी चाहिये, नियम होने चाहिये। पहले चार नियम यह बनें कि कोई आदमी हत्या करेगा तो उसे दण्ड दिया जायेगा, कोई आदमी व्यभिचार करेगा तो उसे दण्ड दिया जायेगा, कोई व्यक्ति झूठ बोलकर किसी को ठंगेगा या कड़वी बात बोलेगा या निन्दा करेगा या चुगली करेगा उसे दण्ड दिया जायेगा। ये चार धर्म चतुर्याम के रूप में लोगों पर लागू हुए। यह इस देश का पुराना इतिहास है। आज हम भूल गये क्योंकि बहुत सा पुराना साहित्य ही हमारे यहाँ से लुप्त हो गया।

जब नियम लोग समझदारी से समझते हैं तो पालन करना आसान हो जाता है। जो बात मुझें प्रिय नहीं लगती वह औरों को भी प्रिय नहीं लगती। मेरे प्रति कोई ऐसा काम करे, जो मेरा जी दुखाये या मुझे पीड़ित करे, वैसा काम मैं औरों के लिए करूँगा तो उनका भी जी दुखाऊँगा, उनको भी पीड़ित करूँगा। सबको हम अपने जैसा समझें। इसलिए मुझे ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये जिससे लोगों को पीड़ा हो।

जिन लोगों ने यह नियम बनाये, उन्होंने राज्य या समाज-व्यवस्था के लिए ही ये नियम नहीं बनाये। उन्होंने प्रकृति के नियमों को बड़ी गहरायी के साथ अनुभूति द्वारा समझ लिया था। कुदरत का कानून कहता है कि ऐसा करोगे तो सुखी हो जाओगे। यदि ऐसा नहीं करोगे तो दुःखी रहोगे। यही शील, कालान्तर में समयानुसार, यम-नियम, अणुव्रत या टेन कमाण्डमेण्ट हुए जिनके पालन का हर धर्म में आदेश है। इनकी पुनर्स्थापना ही हमें नैतिक संकट से उबार सकती है।

(हिन्दुस्तान, जून 13, 2002)

●

12

'विपश्यना' की क्रिया कोई नवीन नहीं

(एक पत्रकार के उद्‌गार)

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥

अर्थात् सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान आदि में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ अच्छी प्रकार शान्त और विकाररहित हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष के ज्ञान में परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित रहता है, अर्थात् उसके ज्ञान में परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

उपरोक्त श्लोक श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भगवान् कृष्ण द्वारा कहा गया है, जिसके आधार पर यह तो स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति की वृत्तियाँ शुद्ध हों तो वह परमात्मा कां साक्षात्कार कर सकता है, परन्तु वृत्तियों में विकार इन्द्रियों की चंचलता का कारण है। अतः इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके भक्त जब भगवान् की ओर उन्मुख होता है तो निश्चित ही उसे परमब्रह्म परमात्मा के विराट् रूप का दर्शन प्राप्त होता है। इन्द्रियों को वश में करने के लिए हमारे वेद-पुराण तथा समय-समय पर अवतरित महापुरुषों, ज्ञानी सन्त-महात्माओं ने अनेक उपाय बतलाये हैं। किसी ने हठ-योग का मार्ग, किसी ने ज्ञान-योग तो किसी ने भक्ति-योग आदि-आदि।

महात्मा बुद्ध ने भी एक ऐसा ही मार्ग सुझाया जिसे 'विपश्यना' शब्द से जाना गया। विपश्यना-शिविर आज भी बौद्ध-धर्मस्थलों पर लगाये जाते हैं। वाराणसी में भी प्रति छहमास पर इस शिविर का आयोजन सारनाथ में होता रहा है तथा इस बार भी 26 जून से 18वाँ शिविर सारनाथ के तिब्बती संस्थान में आयोजित किया गया। डॉ. सोमानी ने विपश्यना के पिछले कई शिविरों में हिस्सा लिया तथा इन शिविरों ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित भी किया। अतः जो कुछ भी उन्होंने इस बारे में बतलाया, उसके अनुसार विपश्यना का अर्थ है स्व को

अर्थात् अपने आपको देखना। इसमें व्यक्ति अपने चित्त व शरीर को विशेष रूप से देखता है। यह क्रिया कोई नवीन नहीं है। इसका उल्लेख हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी किया गया है तथा इसकी महत्ता को समझाते हुए भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। यह बौद्धधर्म से जुड़ी हुई नहीं है, बल्कि भगवान् बुद्ध ने इससे प्रभावित होकर पुनर्जीवित अवश्य किया है।

वाराणसी में लगने वाला यह 18वाँ शिविर था। इस शिविर में भाग लेने हेतु हजारों की संख्या में आवेदनपत्र आते हैं किन्तु स्थानाभाव के कारण अधिकांश को निराशा मिलती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोगों को तथा पुराने साधकों को प्राथमिकता दी जाती है। वर्ष में दो बार जून व अक्टूबर में लगने वाले इस शिविर में 40 प्रतिशत महिलाएँ भी भाग लेती हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोग इसमें आते हैं। जापान, इजरायल, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, अमेरिका, नेपाल, तिब्बत तथा थाईलैण्ड आदि देशों के साधक भी इसमें स्थान पाने के लिए उत्सुक रहते हैं जिसमें कुछ को स्थान दिया भी जाता है।

डॉ. सोमानी ने बताया कि इन शिविरों में साधकों की संख्या 100 से 150 तक होती है। साधकों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता। शिविर-समाप्ति पर साधक जो कुछ स्वेच्छा से दे जाते हैं, उसे अगले शिविर हेतु सुरक्षित रखा जाता है। साधकों के लिए आहार, अल्पाहार आदि की निःशुल्क व्यवस्था की जाती है। उन्हें अपने साथ वस्त्र व शयन हेतु हलका-फुलका सामान ही लाना होता है।

उन्होंने बताया कि यह क्रिया अत्यन्त कठिन है क्योंकि इसमें साधक शिविर-काल तक सम्पूर्ण रूप से संसार से कट जाता है। इनमें कुछ बातें साधक को अवश्य माननी पड़ती हैं। साधक को शिविर-काल तक सदैव मौन रहना पड़ता है। उसे मात्र साधना से सम्बन्धित बात आचार्य से या धम्म सेवकों से करने की छूट रहती है, वह भी नियत समय पर। अपनी ओर से साधक को कोई भी दैनिक क्रिया करने की छूट नहीं रहती। वह अखबार, टेलीफोन, साहित्य तथा औषधि आदि का सेवन नहीं कर सकता। केवल जीवन-रक्षक दवाओं को आचार्य की अनुमति के पश्चात् ग्रहण किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य का पालन करना, नशा व चोरी न करना भी इसी श्रेणी में आते हैं। जो साधक शिविर को बीच में छोड़ना चाहते हैं, छोड़ भी सकते हैं।

डॉ. सोमानी बड़े ही उत्साह के साथ बताते हैं कि महाबोधि सोसायटी तथा भारतीय स्वास्थ्य संगठन के सहयोग से स्थान का चुनाव हो रहा है जिसके पूर्ण होते ही यहाँ एक स्थायी केन्द्र खोला जायेगा, जिससे और भी अधिक लोग इसमें भाग लेकर शारीरिक व आत्मिक शुद्धि कर सकेंगे।

साक्षात्कार कर लौटते समय रास्ते में उनकी बातों पर एक वैचारिक मन्थन प्रारम्भ हो गया। अन्ततः ऐसा लगा कि आज की भौतिकवादी स्वार्थपरक दुनिया में यह शिविर व्यक्ति में नैतिकता, आध्यात्मिकता व आत्मबोध को गति देने की दिशा में उठाया जाने वाला एक सही कदम है तभी तो डॉ. सोमानी जैसा विश्वख्यातिप्राप्त चिकित्सक भी इसकी ओर इतना आकर्षित है और इसके प्रचार-प्रसार के प्रति उत्साहित है।

(गाण्डीव, जुलाई 26, 1994)

●

13

आर्यमौन से मनोदैहिक साधना

एक पुरानी बोधकथा है जो बातूनी लोगों के लिए है।

दो हंस और एक कछुआ किसी तालाब के किनारे रहते थे। हंस समझदार थे और प्रायः चुप रहते थे। जब आवश्यक होता, तभी बोलते थे—सो भी बहुत कम। कछुआ दिनभर बक-बक करता रहता थां, बेमतलब की हजार बातों में उलझा रहता था।

एक दिन हंस अपने देश मानसरोवर लौटने की तैयारी करने लगे। कछुए ने जाना तो गिड़गिड़ाकर बोला—'मुझे भी ले चलो। मानसरोवर का बड़ा नाम सुना है।' हंस नहीं माने, बोले—'तुम वहाँ निभ नहीं सकोगे क्योंकि तुम दिनभर बक-बक करने वाले हो और हमारे देश के लोग मौनप्रिय।' कछुए ने वादा किया, वह पूर्ण मौनव्रत पालन करेगा। हंस उसके इस वादे पर ले चलने के लिए राजी हो गये। उन्होंने एक मजबूत लकड़ी पकड़ ली और कछुए से कहा कि उसे बीचोंबीच अपने दाँतों से कसकर पकड़ लो। उसके बाद दोनों लकड़ी को अपनी चोंच में दबाये और उड़ चले। लकड़ी के बीच झूलता हुआ कछुआ भी साथ-साथ उड़ चला। कछुए को आसमान की यह सैर बहुत भली लगी। वह हंस को बताना चाहता था कि वह कितना खुश है। बोलना चाहता था, पर तभी मौनव्रत याद आया और चुप रह गया।

तीनों मित्रों की वह टोली उड़ते हुए एक गाँव में पहुँची। गाँव में लोग आपस में बातचीत करने लगे—'देखो कैसी विचित्र बात है। दो हंस एक मरे हुए कछुए को उड़ाये लिये जा रहे हैं'। यह सुनकर कछुआ तिलमिला उठा। चुप्पी बरदाश्त न हो सकी। चीखकर बोला—'मैं मुर्दा नहीं, जिन्दा हूँ, जिन्दा। मुँह खुलते ही लकड़ी दाँतों से छूट गयी और वह पृथ्वी पर आ गिरा। हड्डी-पसली चूर-चूर हो गयी और अब्र वह जिन्दा से मुर्दा हो गया।

आर्यमौन केवल वाणी का ही मौन नहीं, शरीर और मन का भी मौन है। वाणी का मौन तो नितान्त आवश्यक है। वाणी का मौन रखते हुए व्यक्ति उस सच्चाई को देखने लगता है कि उसका मन कितना वाचाल है। भीतर ही भीतर

कुछ न कुछ बोलता रहता है। कभी कोई मतलब की, पर अक्सर बेमतलब और ऊलजलूल बात बोलता ही रहता है। यदि कुछ देर बातचीत भी कर ले तो बातूनी मन को और अधिक चारा मिल जाता है। अब वह देर तक उसकी जुगाली करने लगता है और मौन होने का नाम भी नहीं लेता है। वाणी से मौन रहते हुए प्रायः लोग काया के जरिये बातचीत कर लेते हैं, हाथों, आँखों अथवा शरीर के अन्य अंगों को हिला-डुलाकर इशारे से बातें करते हैं। कभी-कभी जुबान हिलाये बिना 'ॐ'-'आ' की खग-भाषा से बातें कर लेते हैं। कभी-कभी कागज-पेन्सिल से लिखकर बात कर लेते हैं। यह सब शरीर द्वारा मौनभंग करना हुआ, जो वाणी के मौन से किसी प्रकार भी कम हानिकारक नहीं है। शरीर के पूर्ण मौन का अभ्यास शरीर की हर हरकत के प्रति सचेत रहकर ही किया जा सकता है। मन को मौन रखने का अभ्यास भी उसे जागरूक रखकर ही किया जाता है। किसी भौतिक अथवा आध्यात्मिक नशे द्वारा उसे प्रसुप्त करके नहीं, यथार्थ के प्रति सतर्क, सचेत रखते हुए।

जो वाणी का मौन नहीं रख सकता है, वह शरीर एवं मन का मौन कैसे निभा पायेगा? जो वाणी से वाचाल होगा, वह शरीर से उद्धत-उदण्ड होगा ही और मन से स्मृतिविहीन तथा मोह-विमूढ़ित होगा ही।

प्राचीन भारत में मौन रखने वाले को मुनि कहते थे। साधकों के लिए मौन-पालन-साधना की सफलता के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। भगवान् बुद्ध स्वयं मौनप्रिय थे इसलिए उन्हें शाक्यमुनि भी कहा जाता है। त्रिपिटक में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें शान्तिप्रिय भगवान् तथागत ने कोलाहल करने वाले भिक्षुओं को अपने साधना-केन्द्र से निकाल बाहर किया। एक बार तो स्वयं धर्म सेनापति सारिपुत्र को अपने अनेक साथियों-सहित इस अनुशासन पर निष्कासन का शिकार होना पड़ा था, जो उन सबके कल्याण का कारण बना।

एक अन्य अवसर पर जेतवन के अनाथ पिण्डक संघाराम में श्रमण यशोज के नेतृत्व में पाँच सौ भिक्षु भगवान् से मिलने आये। ये नवागत भिक्षु स्थानीय भिक्षुओं को नमस्कार करते हुए अपने लिए सोने-बिछाने का प्रबन्ध करते हुए शोर कर रहे थे। मौनप्रेमी भगवान् तथागत ने जब मछुओं जैसे हल्ले-गुल्ले को सुना तो इन भिक्षुओं को बुलाकर डाँटते हुए आज्ञा दी—'निकल जाओ यहाँ से। तुम लोग मेरे पास रहने योग्य नहीं हो।' यशोज सहित सभी भिक्षु भगवान् को अभिबादन् कर संघाराम से बाहर आये। वे सब अपनी पिछली भूल

से सबक लेते हुए पूर्ण मौन का पालन करने लगे और कुछ ही समय की साधना से निर्वाणलाभी हुए।

एक बार मगध का सम्राट् अजातशत्रु अपने पिता की हत्या करने की मानसिक पीड़ा से बहुत व्याकुल था। राजवैद्य जीवक उसे भगवान् बुद्ध के पास उसकी व्याकुलता दूर करने हेतु लेकर गया। जैसे-जैसे राजा का लाव-लश्कर उस स्थान की ओर बढ़ता जाता था जहाँ भगवान् बुद्ध ठहरे हुए थे, वहाँ की नीरवता देख राजा को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि भगवान् बुद्ध अपने 1250 भिक्षुओं के साथ वहाँ ठहरे हैं। इतने व्यक्तियों की खाँस-खखार, छींक आदि की भी आवाज नहीं थी। इस सन्नाटे को देख राजा को किसी षड्यन्त्र का भास होने लगा और उसने सशंक हो म्यान से तलवार निकाल ली। इस पर जीवक ने राजा को समझाया कि भगवान् बुद्ध और उनका भिक्षुसंघ मौनप्रिय है, इसलिए यहाँ इतना सन्नाटा है। उसने भगवान् और भिक्षुसंघ को दूर से ही मशालों की रोशनी से दिखाया, तब कहीं राजा को विश्वास हुआ।

भगवान् बुद्ध के गृहस्थ शिष्य, जिन्हें उपासक कहा जाता है, वे भी बहुत मौनप्रिय थे। इनमें श्रावस्ती का अनाथ पिण्डक सर्वोपरि था। वह भी अपनी मौनप्रियता के लिए प्रसिद्ध था। भिक्षुसंघ के अलावा वह अनेक साधु-समाजों को दान दिया करता था और समय-समय पर उनके यहाँ जाया भी करता था। इनके यहाँ के श्रवण बहुत शोर किया करते थे, परन्तु अनाथ पिण्डक को दूर से आते हुए देखकर वह तुरन्त मौन हो जाते थे। वह जानते थे कि उनका दायक शोरगुल पसन्द नहीं करता है। हमारा शोरगुल सुन कहीं वह नाराज न हो जाय और दान देना बन्द न कर दे।

प्रकृति ने हमें दो कान दिये हैं, पर मुँह एक ही। उसका अर्थ हुआ कि सुनें अधिक और बोलें कम। प्रकृति ने दोनों कान स्वभाव से खुले रखे हैं और मुँह स्वभाव से बन्द। यानी सुनने पर कोई रोक नहीं, पर बोलने पर पूरी रोक। जब बोलना अत्यन्त आवश्यक हो जाये, तो ही मुँह खोलें। अत्यन्त आवश्यक हो, उतनी ही बात करें। केवल काम की बात, मतलब की बात, अन्यथा मौन। पूर्ण मौन। आर्यमौन।

(आज, अप्रैल 17, 1994)

●

14

विश्वासम् फलंदायकम्

श्रावस्ती के दक्षिण में एक बड़ी नदी है। बुद्धकाल में इस नदी के तट पर 500 घरों का एक गाँव था। उसके निवासियों के उद्धार का विचार कर भगवान् बुद्ध ने उस गाँव में जाकर धर्म के उपदेश का निश्चय किया। नदी के किनारे गाँव के समीप आकर वह एक पेड़ के नीचे बैठ गये। उनके व्यक्तित्व की दिव्य आभा देखकर गाँव वाले श्रद्धा से उनके पास गये, किन्तु जब उन्होंने धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया तो किसी ने उनका विश्वास नहीं किया। भगवान् बुद्ध के श्रावस्ती में आने के पश्चात् उनके पट्ट शिष्य सारिपुत्र को भगवान् के दर्शन करने एवं धर्मोपदेश सुनने की इच्छा हुई। जब वह नदी के पास पहुँचा तो नदी गहरी थी और उसका बहाव तेज था। यह जानकर वह अपने आपसे बोला—यह धारा मुझे रोक नहीं सकती, मैं जाकर भगवान् बुद्ध से अवश्य मिलूँगा। उसने पानी में पैर रखे तो उसके पैरों के तले पानी पाषाणशिला से सख्त मालूम पड़ा। जब वह धारा के बीचोंबीच पहुँचा, जहाँ बहाव तेज था तो सारिपुत्र का हृदय बैठने लगा कि कहीं वह बह न जाये। किन्तु अपने विश्वास को जगाकर और मानसिक शक्ति को पुनर्जीवित करके वह पहले की तरह चलता रहा और दूसरे किनारे जा पहुँचा।

गाँव के लोग सारिपुत्र को देखकर बहुत चकित हुए और उन्होंने पूछा कि कोई पुल या नाव न होने पर भी उसने नदी कैसे पार की? सारिपुत्र ने उत्तर दिया—"बुद्ध के उपदेश न सुनने तक मैं अज्ञान में जीता था, चूँकि मैं मुक्ति का मार्ग जानने के लिए व्याकुल था, इसलिए मैंने नदी पार की और अपने विश्वास के कारण उसके अशान्त जल पर चल कर आ गया। केवल विश्वास ने मुझे ऐसा करने की क्षमता और साहस प्रदान किया, जिससे मैं यहाँ भगवान् बुद्ध की आनन्दमयी उपस्थिति में आ गया हूँ ताकि उनसे कल्याणकारी मुक्ति का मार्ग प्राप्त हो सके।"

गाँव वालों के समक्ष भगवान् बुद्ध ने सारिपुत्र से कहा—"तुमने ठीक ही कहा है, केवल तुम्हारे जैसा विश्वास ही जगत् को प्रवसन के गहरे मुँह फैलाये

भँवर से बचा सकता है और मनुष्यों को सूखे पैर दूसरे किनारे पहुँचा सकता है।'' फिर तथागत ने गाँव वालों को दुःखों को जीतने में निरन्तर आगे बढ़ने और भव-बन्धनों को तोड़ देने में पंचशील और प्रज्ञा की शिक्षा के बारे में बताया, जिससे सांसारिकता की नदी पार करके जन्म-मरण के चक्र को तोड़ा जा सकता है और मृत्यु से मुक्ति पायी जा सकती है।

तथागत के शब्दों को सुनकर गाँव वाले प्रसन्नता से भर गये और भगवान् के बताये मार्ग पर विश्वास कर उन्होंने पंचशील को आत्मसात् किया और त्रिरत्न की शरण ली।

●

15

गरीबी हटाओ

एक युग था जब भारत को सोने की चिड़िया समझा जाता था। इस देश की समृद्धि एवं संस्कृति की सुगन्ध सारे विश्व में व्याप्त थी, परन्तु आज 30 प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा के नीचे जी रहे हैं और देश को एक भिखमंगे देश की मान्यता प्राप्त है। गरीबी सबसे बड़ा अभिशाप है। भगवान् बुद्ध ने गरीबी से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों का बड़ा सजीव वर्णन किया है।

उन्होंने चक्रवर्ती सूत्र में कहा है कि एक चक्रवर्ती राजा ने अपनी प्रजा की गरीबी की ओर ध्यान नहीं दिया और वह बढ़ती गयी। एक गरीब ने एक सम्पन्न व्यक्ति के यहाँ चोरी की और पकड़ा गया, राजा ने उससे पूछा कि तुमने चोरी क्यों की? तो उसने उत्तर दिया कि गरीबी के कारण। राजा ने अपने मन्त्री से कहा कि इसे धन-धान्य देकर सम्पन्न बना दो। वैसा ही किया गया। देखा-देखी और गरीब लोगों ने चोरी करना शुरू कर दिया। पकड़े जाने पर राजा ने उन्हें भी धन-धान्य दिया। मन्त्री को चिन्ता हुई, यदि राजा ऐसे ही करते रहे तो खजाना खाली हो जायेगा। उसने राजा को सलाह दी कि अब जो चोर पकड़ा जाये, उसका जनता के सामने सार्वजनिक रूप से सर कटवा दें। ऐसा ही किया गया, फिर भी इससे चोर डरे नहीं। अब वह पकड़े जाने पर झूठ बोलने लगे कि हमने चोरी नहीं की। जब वह छूट जाते तो जिनके घरों में चोरी होती, वह राजा को चोर का नाम बताने लगे ताकि उनको सजा मिले।

चोरों ने अब अपने पास अस्त्र-शस्त्र रखना आरम्भ कर दिया और जहाँ चोरी करते, साक्ष्य मिटाने के लिए हत्या कर देते। चोरों के बढ़ने से समाज में शस्त्र बढ़ने लगे, हत्याएँ होने लगीं, झूठ बोलना सामान्य हो गया, दुर्भावनाएँ बढ़ने लगीं और लोगों की शारीरिक कुरूपता भी बढ़ने लगी। कुरूप लोग सुन्दर स्त्रियों पर निगाह डालने लगे, व्यभिचार और बलात्कार बढ़ने लगे, काम-वासना इतनी बढ़ी कि इन्सेस्ट और समलैंगिकता तक उतर आयी।

समाज में अत्याचार और अराजकता बढ़ने लगी, लोगों ने माता-पिता के प्रति अपने कर्तव्य को भुला दिया। बुजुर्गों के प्रति आदर बन्द हो गया। साधु-

सन्तों के प्रति धार्मिक भाव कम हो गया। दूध, दही, मक्खन एवं शहद का अभाव हो गया। लोग कोदों खाकर जीवित रहने लगे। आयु का ह्रास होने लगा। सारे पुण्य-कर्म विलुप्त हो गये। क्रोध, ईर्ष्या, बैर, घृणा एवं हिंसा की भावना चारों तरफ फैल गयी। माता-पिता, भाई-बहन के पवित्र रिश्ते समाप्त होकर बैर, घृणा एवं हिंसा में परिवर्तित हो गये। गरीबी क्या कर सकती है, इसका ऐसा तर्कसंगत वर्णन और कहाँ मिलेगा? आज हमारे देश का मौजूदा परिदृश्य इससे कुछ भिन्न नहीं है।

क्या गरीबी नारों से समाप्त होगी? सीमित संसाधनों का उपयुक्त उपयोग, जनसंख्या पर नियन्त्रण, उपयुक्त रोजगार ताकि हर व्यक्ति कुछ कमा सके। जीवन-पद्धति में बदलाव हो ताकि अमीरी का दिखावा रुक सके और गरीब उनकी तरफ ललचायी नजरों से न देखे। अमीर अपने धन का लोक-कल्याणार्थ उपयोग करें, शान-शौकत के लिए नहीं। अमीर यह न भूलें कि अथाह धन एकत्र करके भी वह समाज में फैली गरीबी के दुष्परिणामों से नहीं बच सकेंगे। अनाचार के प्रति उपेक्षा दिखाकर वह चोरी, डकैती, अपहरण, राहजनी, हत्या से नहीं बच सकते, कभी भी वह उसका शिकार हो सकते हैं और हो रहे हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की मिसाल सबके सामने है। जब तक हम अपने जीवन में गाँधीवादी आदर्श नहीं लाते, गरीबी और उसके दुष्परिणामों से निबटना मुश्किल है।

अपना मन टटोलिये। देखिये, हमारे समाज में अनाचार का क्या दुष्परिणाम हुआ है। अपना देश आज भ्रष्टता में आठवें नम्बर पर है। आपकी अन्तरात्मा अवश्य बोलेगी कि हमें अपने और सार्वजनिक हित के लिए केवल अच्छे कर्म ही करने चाहिये और बुरे कर्मों से बचना चाहिये। अच्छे कर्मों की सम्पदा से गरीब, गरीब नहीं रह जाता है और चोरी, झूठ, हिंसा एवं व्यभिचार में लिप्त नहीं होगा। लोग स्वस्थ, सुखी एवं सम्पन्न होंगे तथा हम अपने देश के खोये हुए गौरव को पुनःस्थापित कर सकेंगे।

(आज, दिसम्बर 13, 1997)

●

16

शासन होवै धर्म का, लोग होंय खुशहाल

वर्षा न होने से सूखे की स्थिति है और त्राहि-त्राहि मची है। 2600 वर्षों पूर्व भगवान् बुद्ध ने देश में ऐसे वातावरण के लिए राज्य और प्रशासन को ही दोषी कहा है। जिस समय राजपुरुष अधर्मपूर्वक आचरण करने वाले हो जाते हैं उस समय उनके अधीन प्रशासनिक नौकर-चाकर भी अधार्मिक हो जाते हैं। उनके अधर्मपूर्ण आचरण से अच्छे-अच्छे ब्राह्मणाचरण करने वाले गृहस्थ भी अधर्माचरण करने लगते हैं। इन ब्राह्मणों के अधार्मिक होने पर उस राज्य के अधीन निगम एव जनपदवासी एवं अन्य नागरिक भी अधर्माचरण करने लगते हैं। इस प्रकार जनता के अधार्मिक हो जाने पर इस आचरण का प्रभाव प्रकृति पर भी पड़ने लगता है। चन्द्रमा और सूर्य की गति आदि कुछ विषमताएँ आने लगती हैं। चन्द्रमा और सूर्य की अप्रतिकूल गति का नक्षत्र एवं तारागणों पर भी प्रभाव पड़ने लगता है और उनमें भी विषय-परिवर्तन होने लगता है। उन नक्षत्र एवं तारागणों की प्रतिकूलता का प्रभाव रात्रि एवं दिन पर पड़ने लगता है। इस प्रकार दिन और रात के प्रतिकूल होने पर उनसे बनने वाले माह व अर्धमासों पर प्रभाव होने लगता है। इस प्रतिकूलता का प्रभाव ऋतुओं पर भी पड़ने लगता है। इस प्रकार ऋतुओं के प्रतिकूल होने पर वायु भी अपने नियम के विपरीत सब दिशाओं से प्रतिकूल बहने लगती है। वायु प्रतिकूल होने से जलवृष्टि पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। तब समय से जलवृष्टि न होने से खेत में उगे धान सूखने लगते हैं। ऐसे अन्न में भी विषमता आ जाती है। ऐसे विषम परिपाक वाले अन्न खाने से मनुष्यों में रोग फैलते हैं, आयु क्षीण होती है, लोग कुरूप एवं विकलांग होने लगते हैं। इसके विपरीत जब राज्य धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता है, उस समय उसके अधीन लोग भी धार्मिक हो जाते हैं। उनके धार्मिक हो जाने पर गृहस्थ भी धर्माचरण करने लगते हैं। इस प्रकार मनुष्यों के धार्मिक हो जाने का प्रभाव तत्कालीन प्रकृति पर भी पड़ने लगता है, जिससे समय पर वर्षा होती है। खेतों में अन्न-धान्य अच्छी तरह उपजता है।

उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया है कि यदि नदी में तैरती हुई गायों से आगे तैरने वाला वृषभ टेढ़ा तैरता है तो वे पीछे आने वाली गायें भी टेढ़े ही तैरेंगी, क्योंकि उनका नेता ऐसे ही तैर रहा होता है। इसी प्रकार मनुष्यों में श्रेष्ठ माना गया पुरुष यदि अधर्माचरण करेगा तो उसके अधीन प्रजा भी अधर्माचरण के लिए प्रेरित होगी।

आज हमारे देश में देखने को मिल रहा है कि राजपुरुषों में बढ़ता अधर्म ही देश में कुशासन का कारण है, जिससे अनाचार बढ़ रहा है और प्राकृतिक विपदाएँ जैसे भूकम्प, अवर्षा, सूखा, बाढ़, भुखमरी बढ़ रही है। जनता त्रस्त है। राजपुरुष अपना सिंहासन डोलने से बचाने में ही समय व्यतीत कर रहे हैं।

इसके विपरीत मनुष्यों में श्रेष्ठ माना गया पुरुष यदि शासनानुकूल धर्माचरण करेगा तो उसकी प्रजा उससे पूर्व ही धर्माचरण हेतु कटिबद्ध दिखायी देगी। तब ऐसा होगा कि समस्त राष्ट्र सुखर्पूक रहेगा। प्राकृतिक विपदाएँ अपने आप दूर हो जायेंगी।

शासन होवै धर्म का, लोग होंय खुशहाल।

●

देख रूप संसार का, मुग्ध हुआ नादान।
देखते ही मुरझा गया, यह प्रकृति का बान॥
अपने अपने कर्म पर, अपना ही अधिकार।
स्वयं बढ़ावे कर्म पथ, स्वयं मिटावन हार॥
बीते क्षण तो चल दिये, शीश पकड़ क्यों रोय।
पर यह क्षण तो हाथ में, इसको भी क्यों खोय॥
सतत प्रवाहित हो रही, तन की मन की धार।
यहाँ न स्थिर दीखता, यह बहता संसार॥
जिसको मैं शाश्वत कहूँ, नित्य, सत्य, ध्रुव सार।
नष्ट हुआ ज्यूँ बुदबुदा, विषयों का संसार॥

17

भवचक्र

प्रतीत्यसमुत्पाद
(कार्य-कारण-कार्य का चक्र)

अनुलोम— अविद्या के प्रत्यय से संस्कार
संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान
विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप
नाम-रूप के प्रत्यय से छह-आयतन
छह-आयतनों के प्रत्यय से स्पर्श
स्पर्श के प्रत्यय से वेदना
वेदना के प्रत्यय से तृष्णा
तृष्णा के प्रत्यय से उपादान
उपादान के प्रत्यय से भव
भव के प्रत्यय से जाति
जाति के प्रत्यय से बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना, पीटना, दुःखित, बेचैन और परेशान होना होता है।

इस प्रकार सारा का सारा दुःख समुदाय ही उठ खड़ा होता है।

भवचक्र का निरोध

प्रतिलोम— अविद्या के सम्पूर्णतया रुक जाने से संस्कार रुक जाता है
संस्कार के रुक जाने से विज्ञान रुक जाता है
विज्ञान के रुक जाने से नाम-रूप रुक जाता है
नाम-रूप के रुक जाने से छह-आयतन रुक जाते हैं
छह-आयतन के रुक जाने से स्पर्श रुक जाता है
स्पर्श के रुक जाने से वेदना रुक जाती है
वेदना के रुक जाने से तृष्णा रुक जाती है

तृष्णा के रुक जाने से उपादान रुक जाता है
उपादान के रुक जाने से भवचक्र रुक जाता है
भवचक्र के रुक जाने जन्मना रुक जाता है
जन्मना के रुक जाने से बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना, पीटना, दुःखित, बेचैन और परेशान होना रुक जाता है।

इस प्रकार सारा का सारा दुःख समुदाय ही रुक जाता है।

●

18

मेत्ता-भावना

1. मैं बैर-विहीन बनूँ! व्यापाद-विहीन बनूँ! सुखपूर्वक अपनी सुरक्षा कर सकूँ।

2. मेरे माता-पिता, आचार्य और ज्ञाति-बन्धु व्यापाद-विहीन हों! उपद्रव-विहीन हों! सुखपूर्वक अपनी सुरक्षा कर सकें!

3. रक्षा करने वाले देव, रुक्खवासी देव, आकाशवासी देव व्यापाद-विहीन हों! उपद्रव-विहीन हो! सुख-पूर्वक अपनी रक्षा कर सकें!

4. पूर्व दिशा के, पश्चिम दिशा के, उत्तर दिशा के, दक्षिण दिशा के, नीचे की दिशा के, ऊपर की दिशा के (दसों दिशाओं के), पूर्व-दक्षिण दिशा के, पश्चिम-दक्षिण दिशा के, पूर्वोत्तर दिशा के, पश्चिमोत्तर दिशा के, सभी सत्व, सत्व प्राणी, सभी जीव, सभी पुद्गल, जन्म ग्रहण किये पड़े सभी व्यक्ति, सभी आर्य, सभी अनार्य, सभी देव, सभी मनुष्य, सभी अमनुष्य, सभी नरकगामी, बैर-विहीन हों! व्यापार-विहीन हों! उपद्रव-विहीन हों! सुखपूर्वक अपनी सुरक्षा कर सकें!

5. ऊपर भवाग्र से लेकर नीचे अवीचि नरक तक सभी चक्रवालों के भूमिवासी प्राणी व्यापाद-विहीन हों, बैर-विहीन हों, दुःख-विहीन हों!

6. ऊपर भवाग्र से लेकर नीचे अवीचि नरक तक सभी चक्रवालों के जलवासी प्राणी व्यापाद-विहीन हों, बैर-विहीन हों, दुःख-विहीन हों, उपद्रव-विहीन हों।

7. ऊपर भवाग्र से लेकर नीचे अवीचि नरक तक सभी चक्रवालों के आकाशवासी प्राणी व्यापाद-विहीन हों, बैर-विहीन हों, दुःख-विहीन हों, उपद्रव-विहीन हों!

8. जिन प्राणियों ने कुशल धर्म प्राप्त कर लिये हैं, उनके प्रताप से सभी धर्म—राजधर्म को जानकर सुखपूर्वक रहें।

9. धर्म के मार्ग पर चलकर सभी विशुद्धि प्राप्त करें, सुख प्राप्त करें, शोक और अशान्ति से मुक्त हों, निर्वाण के उत्तम सुख को प्राप्त करें।

10. चिरकाल तक के लिए सद्धर्म की स्थापना हो। धर्म गौरवपूर्ण हो। पर्जन्य समय पर सभी प्राणियों के लिए मेह बरसावे।

11. प्राचीनकाल के अच्छे राजाओं की भाँति (हमारा) राजा भी धर्म का पालन करे, प्रजा का आत्मज सदृश माने।

12. सभी संस्कृत (बनी हुई) चीजें अनित्य हैं। जब प्रज्ञा से कोई यह देख लेता है, तो सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। ऐसा है यह (चित्त) विशुद्धि का मार्ग!

13. सभी संस्कृत (बनी हुई) चीजें दुःख हैं। जब प्रज्ञा से कोई यह देख लेता है तो सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। ऐसा है यह (चित्त) विशुद्धि का मार्ग।

14. सभी धर्म अनात्म हैं। जब प्रज्ञा से कोई यह देख लेता है तो सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है ऐसा है यह (चित्त) विशुद्धि का मार्ग!

15. हे भिक्षुओं! बिना प्रमाद के कुशल सम्पादन करो। लोक में बुद्ध का उत्पन्न होना कठिन है। मनुष्य का जीवन दुर्लभ है। श्रद्धा-सम्पत्ति दुर्लभ है। प्रव्रजित होना दुर्लभ है। सद्धर्म-श्रवण दुर्लभ है। इस प्रकार प्रतिदिन उपदेश प्राप्त होता है।

16. हे भिक्षुओं! अतः अब आओ! और अप्रमादी होकर इस सत्य धर्म का संग्रह-सम्पादन करो कि सभी संस्कार व्ययधर्मी हैं, नाशवान हैं।

17. यह जो इतनी पुण्य सम्पदा हमने अर्जित की है, इसके पुण्यदान का सभी देवगण पुण्यानुमोदन करें, जिससे कि हमें सब प्रकार की सुख- सम्पत्ति सिद्ध हो।

18. श्रद्धापूर्वक दान दें। सर्वदा शील का पालन करें। (शमथ और विपश्यना) भावना में रत रहें। पधारे हुए देवगण अपने स्थान को लौट जायें।

19. सभी बाल-प्राप्त सम्यक् सम्बुद्धों और प्रत्येक बुद्धों के बल से एवं अरहन्तों के तेज से मैं रक्षा-सूत्र बाँधता हूँ।

20. सद्धर्म के इस मार्ग पर आरूढ़ होकर मैं बुद्ध की पूजा करता हूँ।
सद्धर्म के इस मार्ग पर आरूढ़ होकर मैं धर्म की पूजा करता हूँ।
सद्धर्म के इस मार्ग पर आरूढ़ होकर मैं संघ की पूजा करता हूँ।

21. इस मार्ग पर आरूढ़ होकर मैं निश्चय ही जन्म, जरा और मृत्यु से मुक्त हो जाऊँगा।

●

19

कायस्थ कौन?

आज कायस्थ शब्द एक जातिविशेष का बोधक है। परन्तु लगता है कि प्राचीनकाल में यह शब्द उन साधारण व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त था जो अन्तरमुखी हो भीतर की सच्चाई को देखकर प्रज्ञा जगा रहे हों, भीतर काया में स्थित हो अपनी प्रज्ञा जगा रहे हों, विपश्यना कर रहे हों। कायस्थ है तो प्रज्ञावान हैं ही परन्तु बुद्धिमान भी अधिक हो गया। जब दुःख-बोध, अनित्यबोध, अनात्मबोध पुष्ट होता है तो प्रज्ञा के साथ बुद्धि का भी विकास होता है, जो व्यक्ति केवल बहिर्मुखी है, बाहर की दुनिया को देख करके अपने बुद्धि का विकास कर रहा है, वह बुद्धिमान होगा। लेकिन कायस्थ साधक बाहर की भी बातें खूब समझता है और भीतर की भी बातें समझने लगता है। जो विपश्यनारत हो काया में स्थित हो प्रज्ञावान बने उन्हें कायस्थ कहा जाता था और कालान्तर में इन व्यक्तियों के पुत्र-पौत्रों ने कायस्थ उपनाम लगा दिया और पीढ़ी दर पीढ़ी उसे एक जातिविशेष के रूप में प्रयोग करने लगी। इनके और विभाजन हुए जो वास्तव में 'श्री' सम्पन्न थे वह श्रीवास्तव कहलाने लगे। जो सत्संग करते थे, सत्संगी सक्सेना हो गये आदि। सम्भवतः आज प्राचीन सन्दर्भ को सभी भूले हुए हैं।

(आज, अक्टूबर 19, 2007)

●

20

वाराणसी में विपश्यना

लगभग 2600 वर्षों पूर्व भगवान् बुद्ध ने ऋषिपत्तन (सारनाथ) में आषाढ़ी पूर्णिमा को अपना पहला उपदेश पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को दिया जो 'धम्मचक्क प्रवर्तन सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। उसके पश्चात पूरे वर्षावास के दौरान उन्होंने उन प्रथम पाँच भिक्षुओं को एवं वाराणसी के श्रेष्ठी-पुत्र यश एवं उसके 54 साथियों को विपश्यना सिखायी जिससे वे सब वर्षावास के दौरान ही 'अरिहन्त' हुए और उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ। यहीं से भगवान् बुद्ध का पहला 'संघ' बना। संघ के सभी सदस्यों को भगवान् ने अलग-अलग दिशाओं में अलग-अलग स्थानों पर जाकर जो उन्होंने धम्म-ज्ञान सीखा तथा उसी को 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' सिखाने और उसका प्रचार करने के लिए भेजा। इसके पश्चात् लगभग 500 वर्षों तक यह विद्या बौद्ध-भिक्षुओं के विहारों में जन साधारण में प्रचलित रही। इसका विवरण चीनी यात्रियों ह्वेनसांग एवं फाहियान के वर्णनों से प्रमाणित होता है।

इसके पश्चात् यह विद्या वाराणसी से ही क्या, सारे देश में, समिश्रण एवं मुस्लिम अतातायियों के आक्रमण से लुप्त हो गयी। हम कृतज्ञ हैं सम्राट् अशोक के जिन्होंने पके हुए अरिहन्तों को विदेशों में भी विद्या-दान एवं धम्म- प्रचार के लिए धम्मदूतों के रूप में भेजा। जहाँ-जहाँ भगवान् द्वारा दी गयी शिक्षायें फैलीं उनमें से केवल म्यांमार (बर्मा) में ही विपश्यना साधना (विद्या) शुद्ध रूप से गुरु-शिष्य परम्परा से आज तक विद्यमान है। उसी कड़ी में एक भारतीय राजस्थानी परिवार के बर्मा में जन्में श्री सत्यनारायणजी गोयनका ने गुरुवर सयाजी ऊ बा खिन से यह विद्या सीखी एवं 14 वर्षों तक उनके सान्निध्य में रहकर इस विद्या में पकते रहे। गुरुवर सयाजी ऊ-बा खिन ने इस विद्या का गुरु बनाकर सत्यनारायण गोयनकाजी को भारत को जो ऋण बर्मा पर था उसे चुकाने के लिए भारत भेजा। भारत आने के तुरन्त बाद बाद ही गुरु गोयनकाजी ने इस विद्या को भारत में सिखाना शुरू कर दिया। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि सिखाने

का पहला शिविर वाराणसी के सारनाथ स्थल में ही लगायें जहाँ से इस विद्या का प्रारम्भ ही नहीं हुआ वरन् प्रचार की शुरुआत भी हुई। परन्तु ऐसा नहीं हो सका और उनका पहला शिविर बम्बई में 3/7/69 से 13/7/69 तक लगा जिसमें 14 प्रशिक्षु साधक थे। इसके बाद दूसरा एवं तीसरा शिविर भी बम्बई में ही लगा। उनका चौथा शिविर बिरला धर्मशाला, सारनाथ में 11/9/69 से 21/9/69 तक चला जिसमें 20 साधकों ने भाग लिया। इस प्रकार वाराणसी में उनके कुल 10 शिविर लगे जिसकी तिथि एवं पुराने/नये साधकों की संख्या निम्नवत् रही—

साधना-स्थल	दिनांक	पुराने साधक	नये साधक
बिरला धर्मशाला, सारनाथ	11/9/69 से 21/9/69	00	20
डालमिया बिल्डिंग, वाराणसी	13/8/70 से 23/8/70	08	20
बर्मीज बिहार, वाराणसी	01/12/72 से 11/12/72	80	103
बर्मीज बिहार, वाराणसी	01/12/72 से 21/12/72	20	—
बर्मीज बिहार, वाराणसी	01/12/72 से 01/01/73	09	—
बर्मीज बिहार, वाराणसी	11/12/72 से 21-12-72	110	61
बर्मीज बिहार, वाराणसी	22/12/72 से 01/01/73	87	40
बर्मीज बिहार, वाराणसी	22/12/72 से 01/01/74	33	62
बर्मीज बिहार, वाराणसी	03/12/74 से 13/12/74	63	95
बर्मीज बिहार, वाराणसी	13/12/74 से 23/12/74	55	83

सन् 1974 के बाद गुरुजी (सत्यनारायण गोयनका) ने वाराणसी में शिविर नहीं लिये। उनके बनाये सहआचार्य श्री लक्ष्मीनारायणजी राठी, श्री टण्डनजी, श्री मोदीजी, श्री वैद्यनाथजी आचार्य आदि अस्थायी स्थानों पर शिविर लेते रहे। कई वर्षों तक दस दिवसीय शिविर गर्मियों की छुट्टियों में तिब्बती संस्थान में लगते रहे। फिर वहाँ सुविधा न होने पर चिरईगाँव के स्वास्थ्य केन्द्र पर और उसके पश्चात् बर्मीज बौद्ध विहार, सारनाथ में लगे। अस्थायी शिविरों (जिप्सी शिविर) के लगवाने का कार्य एवं व्यवस्था वाराणसी के साधक श्री परमानन्द माहेश्वरी करते रहे जिनका योगदान आज भी वरिष्ठ साधक एवं मार्गदर्शक के रूप में है। 2003 में स्थायी केन्द्र के लिए सारनाथ के समीप खरगीपुर गाँव में लगभग ढाई एकड़ जमीन स्वर्गीय श्री सुशील मेहरोत्रा एवं

स्वर्गीय श्री सत्यप्रकाश के प्रयास से खरीदी गयी जिसकी खरीद में धम्मगिरी इण्टरनेशनल विपश्यना साधना केन्द्र, इगतपुरी का बहुत बड़ा योगदान था। गुरुजी की प्रेरणा से जयपुर के साधक श्री राजेश गुप्ताजी ने 2004 में केन्द्र का निर्माण कराया। 4 सितम्बर 2004 यहाँ पहला शिविर लगा जिसके आचार्य श्री गोपालशरण सिंह थे और उसके बाद प्रत्येक माह के 3-14 एवं 18-29 तक दस दिवसीय शिविर लगने लगे जिनमें भिन्न-भिन्न आचार्य उसका संचालन करते रहे। इस केन्द्र पर लगभग 40 पुरुषों और 25 महिलाओं के रहने की पूर्ण व्यवस्था है। अब तो गर्मियों की छुट्टियों में बाल शिविर भी लगने लगे हैं। पुराने साधक के लिए बीच-बीच में 2 या 3 दिवसीय शिविर तथा प्रत्येक माह के हर चौथे रविवार को एक दिवसीय शिविर 9 बजे से 5 बजे तक खरगीपुर, सारनाथ स्थित साधना केन्द्र में लगता है एवं हर रविवार सायं 5-6 तक सामूहिक साधना वाराणसी में जेलरोड पर स्थित कुशस्थली में होती है।

खरगीपुर, सारनाथ, वाराणसी स्थित साधना केन्द्र पर होने वाले प्रत्येक शिविरों में विभिन्न आचार्य शिविर का संचालन करते हैं। अब केन्द्र पर एक रेजिडेन्ट आचार्य एवं उनके सहआचार्य की नियुक्ति भी इगतपुरी से हो गयी है। ये यहाँ की साधना सम्बन्धी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं—जैसे शिविर से चलने के लिए आचार्य का प्रबन्ध एवं सम्पूर्ण प्रबन्ध पर नजर और उसकी कमियों को पूरा करने का प्रयास। केन्द्र की व्यवस्था साधना केन्द्र के एक ट्रस्ट द्वारा होती है जिसका संचालन केन्द्र आचार्य द्वारा किया जाता है। केन्द्र पर विपश्यना सम्बन्धी साहित्य मिलने की भी सुविधा है जो केवल शिविर के दसवें दिन (मैत्री वाले दिन) ही उपलब्ध होती है। ग्यारहवें दिन प्रातः शिविर समाप्त होता है और साधकों को उनकी आवश्यकतानुसार ट्रान्सपोर्ट का भी प्रबन्ध किया जाता है। केन्द्र का प्रबन्ध साधकों द्वारा प्राप्त 'ऐच्छिक दान' से होता है।

धम्मचक्क विपश्यना साधना केन्द्र, खरगीपुर, सारनाथ, वाराणसी की देखरेख पहले श्री सुशील मेहरोत्रा करते थे जिनकी मृत्यु के पश्चात् यह कार्य उनकी पत्नी श्रीमती बीना मेहरोत्राजी करती हैं जो वर्तमान में विपश्यना की पूर्ण आचार्य भी हैं।

वाराणसी से बनने वाले विपश्यना साधना के आचार्य निम्नवत् हैं जो वाराणसी में साधकों को निर्देशन एवं साधना में योगदान देते थे/हैं।

1. डॉ. रामनयन सिंह, सहायक आचार्य (1994) एवं वरिष्ठ सहायक आचार्य (1997)

2. डॉ. प्रेमनारायण सोमानी, सहायक आचार्य (1996) एवं वरिष्ठ सहायक आचार्य (2009)

3. श्री सुशील मेहरोत्रा, सहायक आचार्य (2003) एवं पूर्ण आचार्य (2012)

4. श्रीमती बीना मेहरोत्रा, सहायक आचार्य (2003) एवं पूर्ण आचार्य (2013)

खरगीपुर, सारनाथ स्थित विपश्यना साधना केन्द्र के प्रबन्धन का कार्य श्री हरि सिंह (सेवानिवृत्त कृषि इंजीनियर) केन्द्र पर उपस्थित रहकर व्यवस्थापक के रूप में कार्य कर रहे हैं, जिनका योगदान सराहनीय है। केन्द्र पर वर्तमान में पगोडा (शून्यागार) बन रहा है जिसमें व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग ध्यान-कक्ष बनाये जा रहे हैं, जिनकी संख्या 63 निर्धारित की गयी है। इस पगोडा का निर्माण पूर्ण रूप से दान पर आधारित है जिसकी लागत लगभग 6500000 रुपये होगी।

राय दिनेश चन्द्र का शिविरों का अनुभव

जब मैं सन् 1974 में विपश्यना के क्षेत्र में आया तो मेरा पहला विपश्यना शिविर सन् 1974 में बर्मीज, बुद्ध विहार जो रोडवेज के पास वाराणसी में होता था। पहला विपश्यना कोर्स मैंने श्री बाब हावर जी के साथ किया था, जो गुरु गोयनकाजी के गुरुभाई थे, यहीं बर्मीज, बुद्ध विहार में करीब 20-22 साधक भी थे। बाब हावरजी की विशेषता यह थी कि वे पुरुष साधकों के पास जाकर उनकी विपश्यना सम्बन्धित समस्याओं का समाधान करते थे। मुझे मधुमेह की बीमारी थी तो मेरे इंजीनियरिंग कॉलेज के जूनियर श्री एस. पी. केला जो मेरे मित्र थे, उन्होंने मुझे राय दी कि मैं विपश्यना साधना करूँ, तो मेरे मधुमेह के डॉ. सुमन मिश्रा ने कहा कि ठीक है आप विपश्यना कीजिये मैं बीच में आकर आपका सुगर टेस्ट कर लूँगा और बाद में भी कर लूँगा। कोर्स के दरम्यान पहले-दूसरे दिन से ही मेरा सुगर नॉर्मल हो गया था तब सुगर टेस्ट कराया तो टेस्ट रिपोर्ट से सुगर गायब हो गया।

दूसरा कोर्स मैंने उसी वर्ष बर्मीज, बुद्ध विहार में ही बाब हावरजी और गुरु गोयनका के साथ बैठकर किया। दोनों गुरु आचार्य के रूप में साथ बैठे। वहाँ पर कई वर्षों तक विपश्यना कोर्स किया। एक बार मुझे याद है कि बर्मा के साथी दो मारवाड़ी गलीचे वाले, गुरुजी और हम लोगों ने पुराने मन्दिर जो अब खण्डहर है, के पास जहाँ पर अशोक स्तम्भ का कुछ हिस्सा था और

अशोक रेलिंग थी वहाँ पर ध्यान किया था। वहाँ पर ध्यान में बैठते ही संवेदना जागने लगी। एक बार गुरुजी के साथ हम लोग सारनाथ एरिया में निरीक्षण कर रहे थे तो सारनाथ रेलवे स्टेशन के आगे एक टीला है जहाँ पर बड़ी अच्छी संवेदना मिली थी।

बहुत वर्षों तक परमानन्द माहेश्वरी ने आचार्य श्री लक्ष्मीनारायण राठी के आचार्यत्व में अलग-अलग जगहों पर जहाँ उनको जगह मिली वहाँ अस्थायी शिविरों में 10 दिनों के दो शिविर तिब्बतन संस्थान, सारनाथ में भी करवाये फिर एक शिविर आचार्य डॉ. आर.एन. सिंह के साथ जैन मन्दिर, सारनाथ में एक शिविर तम्बू के हाल में चिरईगाँव में भी था। कुछ कोर्सेस बर्मीज, बुद्ध विहार, सारनाथ में भी हुए थे।

जब हमें पहली बार जमीन मिली तो खुली जमीन में हमें श्री खदरिया जी ने आचार्य के रूप में एक दिन शिविर कराये थे। वहाँ महिला और पुरुष के लिए अस्थायी टॉयलेट बने थे। ये जमीन धम्मचक्क की जमीन 3 वर्ष से काफी परिश्रम करने के बाद मिली। जब सुशीलजी मेहरोत्रा रिटायर्ड कर गये तो उसी समय वे इगतपुरी गुरुजी के पास गये। गुरुजी ने बताया कि $2^{1/2}$ से 3 एकड़ जमीन मिल जाये तो विपश्यना साधना केन्द्र बन सकता है। फिर संयोग के उसके बाद ही सत्यप्रकाश अग्रवाल और सुशीलजी के और उनके रिश्तेदारों के सहयोग से एक स्थायी जमीन मिल गयी जो आजकल धम्मचक्क विपश्यना केन्द्र है। वाराणसी विकास प्राधिकरण वालों ने कहा कि उस जमीन की स्वीकृति नहीं देंगे जब तक सड़क से रास्ता न मिले तो सत्यप्रकाशजी और मैंने मिलकर 30-35 फिट रास्ता के लिए जमीन वहाँ के काश्तकारों से खरीदी, जिससे विकास प्राधिकरण की रुकावट खत्म हो गयी।



21

विपश्यना-शिविर की अनुशासन-संहिता

आओ लोगों जगत के, चले धरम के पंथ।
इस पथ चलते सत्य पुरुष, इस पथ चलते संत॥

लाभ एवं लक्ष्य

- मानसिक विकारों से विमुक्ति (राग, द्वेष, मोह, भय, अहंकार)
- मानसिक तनाव से मुक्ति
- मन पर नियंत्रण, अन्धभक्ति से मुक्ति
- मन की वास्तविक शान्ति
- पल-पल सत्य दर्शन
- आत्म मंगल, सर्व मंगल

साधना-विधि

विपश्यना भारत की एक अत्यन्त पुरातन साधना-विधि है। लगभग 2500 वर्ष पूर्व भगवान् गौतम बुद्ध ने विलुप्त हुई इस पद्धति का पुनः अनुसन्धान कर इसे सर्वसुलभ बनाया था। यह अन्तर्मन की गहराइयो तक जाकर आत्म निरीक्षण द्वारा आत्मशुद्धि करने का साधन है। अपने नैसर्गिक साँस के निरीक्षण से आरम्भ करके अपने ही शरीर और चित्तधारा पर पल-पल होने वाली परिवर्तनशील घटनाओं को तटस्थ भाव से निरीक्षण करते हुए चित्त-विशोधन और सद्गुण संवर्धन का यह अभ्यास, साधक को कहीं किसी साम्प्रदायिक आलंबन से बँधने नहीं देता। यह साधना सर्वग्राह्य है, बिना किसी भेदभाव के सबके लिए समान रूप से कल्याणकारिणी है।

विपश्यना साधना के उद्देश्य : यह कि साधक पारस्परक द्वेष और द्रोह के दुर्गुणों से छुटकारा पा सके, साम्प्रदायिकता एवं संकीर्ण जातीयता के विषैले अहं भाव के बन्धनों से उन्मुक्त हो सके, एक स्वस्थ सुखी समाज का स्वस्थ-सुखी सदस्य बन सके। आत्ममंगल तथा सर्वमंगल की भावनाओं से परिपूर्ण विद्येयात्मक और सृजनात्मक जीवन जी कर अपना जीवन सुधार सके।

विपश्यना राग, द्वेष और मोह से विकृत हुए चित्त को निर्मल बनाने की

साधना है। दैनिक जीवन में तनाव-खिंचाव से गाँठ-गठीले हुए चित्त को ग्रन्थिविमुक्त करने का सक्रिय अभ्यास है।

विपश्यना अध्यात्म की ऊँची सनातन साधना है। शरीर के अनेक रोग मन पर आधारित होने के कारण चित्त-शुद्ध के उपफलस्वरूप ठीक हो ही जाते हैं। पर साधक कहीं इन रोगों के उपचार को ही मुख्य उद्देश्य बनाकर शिविर में न शामिल हों। लक्ष्य आध्यात्मिक ही होना चाहिए।

स्वानुशासन

विपश्यना सीखने के लिए 11 दिन की अवधि वास्तव में बहुत ही कम है। एकांत अभ्यास की निरन्तरता बनाये रखना नितान्त आवश्यक है। इसी बात को ध्यान में रखकर यह नियमावली और समय-सारणी बनाई गई है(इसके पीछे अनेक साधकों के अनुभवों का वैज्ञानिक आधार है।

समर्पण

साधना शिविर के अवधि में साधक को अपने आचार्य के प्रति विपश्यना-विधि के प्रति तथा समग्र अनुशासन संहिता एवं समय सारिणीं के प्रति पूर्णतया समर्पण करना होगा। समर्पित भाव होने पर ही निष्ठापूर्वक काम हो पायेगा और सविवेक श्रद्धा का भाव जागेगा जो कि साधक की अपनी सुरक्षा और मार्गदर्शन हेतु नितान्त आवश्यक है।

शील पालन

शिविर के दौरान निम्न शीलों का पालन करना अनिवार्य है।

1. जीव हत्या से विरत रहेंगे।
2. चोरी से विरत रहेंगे।
3. अब्रह्मचर्य (मैथुन) से विरत रहेंगे।
4. असत्य भाषण से विरत रहेंगे।
5. नेश के सेवन से विरत रहेंगे।

पुराने साधक को तीन अधिक पालन करने होंगे-

6. दोपहर बाद (विकाल) भोजन से विरत रहेंगे।
7. शृंगार-प्रसाधन एवं मनोरंजन से विरत रहेंगे।
8. ऊँचे आरामदेह विलासी शय्या के प्रयोग से विरत रहेंगे।

पुराने साधक सायं 5 बजे केवल नींबू की शिकंजी लेंगे। जबकि नये साधक दूध/चाय, फल ले सकेंगे। रोग आदि की विशिष्ट अवस्था में पुराने साधकों को फलाहार की छूट आचार्य की अनुमति से ही दी जा सकेगी।

आर्य-मौन

शिविर आरम्भ होने से लेकर दसवें दिन सुबह दस बजे तक साधक आर्यमौन अर्थात् वचन व शरीर से भी मौन का पालन करेंगे। शारीरिक संकेतों से या लिख-पढ़कर विचार विनिमय करना भी वर्जित है। अत्यन्त आवश्यक हो तो व्यवस्थापक से तथा विधि को समझने के लिए आचार्य से बोलने की छूट है, परन्तु ऐसे समय भी कम से कम, जितना आवश्यक हो उतना ही बोलें। विपश्यना साधना व्यक्तिगत अभ्यास है। अतः हर साधक अपने को अकेला समझता हुआ एकान्त साधना में ही रत रहे।

वेशभूषा

शरीर व वस्त्रों की स्वच्छता, वेश-भूषा में सादगी एवं शिष्टाचार आवश्यक है। झीने कपड़े पहनना वर्जित है। महिलाएँ कुर्ते के साथ दुपट्टे का भी प्रयोग अवश्य करें। हाफ पैंट व हाफ स्लेक्स व सैण्डो का प्रयोग न करें।

पुरुषों एवं महिलाओं का पृथक-पृथक रहना

आवास, अभ्यास, अवकाश और भोजन आदि के समय सभी पुरुषों और महिलाओं को अनिवार्यतः पृथक-पृथक रहना होगा।

वाह्य सम्पर्क

शिविर के पूरे काल में साधक को अपने सारे बाह्य सम्पर्क विच्छिन्न रखने होंगे। वह केन्द्र परिसर में ही रहेंगे। इस अवधि काल में किसी से टेलीफोन अथवा पत्र द्वारा भी सम्पर्क न करें। कोई अतिथि आ जाये तो व्यवस्थापकों से ही सम्पर्क करेगा। मोबाइल फोन अनिवार्यतः व्यवस्थापक के पास जमा करना होगा।

साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड एवं अन्य साधना-विधियों का सम्मिश्रण

शिविर की अवधि में साधक किसी अन्य प्रकार की साधना-विधि व पूजा-पाठ, धूप-दीप, माला-जप, भजन-कीर्तन, व्रत-उपवास आदि कर्मकाण्डों के अभ्यास अनुष्ठान न करें। विपश्यना के साथ किसी अन्य साधना विधि का सम्मिश्रण हानिप्रद हो सकता है।

योगासन व व्यायाम

विपिश्यना साधना के साथ योगासन व अन्य शारीरिक व्यायाम का संयोग मान्य है, परन्तु केन्द्र में फिलहाल इनके लिए आवश्यक एकान्त की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं है। इसलिए साधकों को चाहिए कि वे इनके स्थान पर अवकाश काल में निर्धारित स्थानों पर टहलने का ही व्यायाम करें।

मंत्राभिषिक्त माला-कंठी, गंडा-ताबीज आदि

साधक मंत्राभिषिक माला-कंठी, गंडा-ताबीज आदि अपने साथ न लाएँ। यदि भूल से ले आये हों तो केन्द्र पर प्रवेश करते समय इन्हें दस दिन के लिए व्यवस्थापक को सौंप दें।

कीमती आभूषण

केन्द्र में कीमती आभूषण व वस्तुओं को सुरक्षित रखने की समुचित व्यवस्था नहीं है। अतः इन्हें अपने साथ न लाएँ। परन्तु यदि कुछ ले ही आये हों तो अपने निवास में न रखकर व्यवस्थापक को सौंप दें।

नशीली वस्तुएँ, धूम्रपान, जर्दा-तम्बाकू व दवाएँ

देश के कानून के अन्तर्गत भांग, गाजा, चरस आदि सभी प्रकार की नशीली वस्तुएँ रखना अपराध है। केन्द्र में इनका प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है। केन्द्र की साधना स्थली में धूम्रपान करने अथवा जर्दा तम्बाकू खाने की सख्त मनाही है।

कुछ दवाएँ विपश्यना साधना के प्रतिकूल होने के कारण नहीं ली जानी चाहिए। फिर भी रोगी साधक अपनी दवाएँ अपने साथ ला सकते हैं, किन्तु सेवन के बारे में आचार्य से परामर्श करें।

पढ़ना-लिखना

साधक किसी भी विषय की पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ व लेखन-सामग्री अपने साथ नहीं लाए। शिविर के दौरान धार्मिक एवं विपश्यना सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ना भी वर्जित है। ध्यान रहे विपश्यना साधना पूर्णतया प्रयोगात्मक विधि है। लेखन, पाठन से इसमें विघ्न ही होता है। अतः नोट्स भी नहीं लिखें।

आचार्य की विशिष्ट अनुमति के बिना केन्द्र पर इनका प्रयोग सर्वथा वर्जित है।

केन्द्र पर क्रय-विक्रय की असुविधा रहती है। अतः अपने दैनिक उपयोग की वस्तुएँ तेल, साबुन, मंजन, ब्रश, टार्च तथा ओढ़ने बिछाने की चद्दरें/कम्बल साथ लायें। विद्यापीठ में गद्दे, आसन उपलब्ध है।

आचार्य से मिलना

साधक चाहे तो अपनी समस्याओं के समाधान के लिए आचार्य से दोपहर 12 बजे से 12.30 बजे के बीच अकेले मिल सकता है। परन्तु यह ध्यान रहे कि सभी प्रश्न विपश्यना-विधि को स्पष्ट समझने के लिए जिज्ञासु भाव से ही किये जाँय, वाद-विवाद व तर्क-वितर्क के लिए नहीं। समय सीमा का ध्यान रखें ताकि अन्य साधक भी अपनी शंका-समाधान कर सकें। रात्रि 9 से 9.30 बजे तक साधना कक्ष में ही सार्वजनिक प्रश्नोत्तर का अवसर उपलब्ध होगा।

भोजन

विभिन्न समुदायों के लोगों को अपनी रुचि का भोजन उपलब्ध कराने में अनेक व्यवहारिक कठिनाइयाँ हैं। इसलिए साधकों से प्रार्थना है कि व्यवस्थापकों द्वारा जिस सादे व सात्विक भोजन की व्यवस्था की जाय, उसी में समाधान पायें। यदि किसी रोगी साधक को चिकित्सक द्वारा कोई विशेष पथ्य बतलाया गया हो तो आवेदन-पत्र में शिविर में प्रवेश के समय इसकी सूचना व्यवस्थापक को अवश्य दें, जिससे यथासम्भव आवश्यक व्यवस्था की जा सके।

विपश्यना जैसी अनमोल साधना की शिक्षा पूर्णतया निःशुल्क दी जाती है। शिविरों का खर्च इस साधना से लाभान्वित साधकों के कृतज्ञता भरे ऐच्छिक दान से चलता है। जिन्हें इस विधि द्वारा सुख-शान्ति मिली है, शिविर समापन के समय साधकों के मन में इस प्रकार की मंगल भावना जागे तो वे भी श्रद्धा व शक्ति के अनुसार दान दे सकते हैं।

धर्म

कायिक कर्म सुधार ले, वाचिक कर्म सुधार।
मन के कर्म सुधार ले, यही धर्म का सार।
अपना भी होवे भला, भला जगत का होय।
जिससे सबका हो भला, शुद्ध धर्म है सोय।
अपना रक्षित धर्म ही, अपना रक्षक होय।
धारण कर ले धर्म को, धरम सहायक होय।

-स.न. गोयनका

समय-सारिणी

प्रातः

4.00 बजे	जागरण
4.30 से 6.30	साधना निवास स्थान/ध्यानकक्ष/चैत्य में
6.30 से 7.15	नाश्ता
7.15 से 8.00	विश्राम
8.00 से 9.00	सामूहिक साधना : ध्यानकक्ष/चैत्य
9.00 से 11.00	साधना : आचार्य के निर्देशानुसार निवास/ध्यानकक्ष/चैत्य

दोपहर

11.00 से 12.00	भोजन
12.00 से 1.00	विश्राम

अपराह्न

1.00 से 2.30	साधना : निवास स्थान/ध्यानकक्ष/चैतय में
2.30 से 3.30	सामूहिक साधना : ध्यानकक्ष/चैत्य
3.30 से 5.00	साधना : आचार्य के निर्देशानुसार निवास/ध्यानकक्ष/चैत्य
5.00 से 5.30	दूध/चाय, फल या नीबू की शिकंजी
5.30 से 6.00	विश्राम या टहलना

सायं

6.00 से 7.00	सामूहिक साधना : ध्यानकक्ष/चैत्य
7.00 से 8.30	प्रवचन
8.30 से 9.00	सामूहिक साधना : ध्यानकक्ष/चैत्य
9.00 से 9.30	प्रश्नोत्तर : ध्यान कक्ष में
9.30 बजे	अपने शयन कक्ष में आगमन, रोशन बन्द व शयन

विशेष : सामूहिक साधना के दौरान उठकर कक्ष से बाहर जाना बिल्कुल मना है। उपरोक्त स्वानुशासन एवं समय-सारिणी आपकी साधना में अधिक से अधिक सफलता प्रदान करें। शिविर व्यवस्थापक आपकी सेवा और सहयोग के लिए प्रस्तुत हैं और आपकी सफलता एवं सुख, शान्ति की मंगल कामना करते हैं।

शिविर हर महीने 3-14 एवं 18 से 29 तारीख को लगते हैं। इच्छुक साधक प्रारम्भिक तिथि को 2 बजे अपराह्न तक पहुँच जायें।

अधिक जानकारी के लिये -

Website : www.vridhamma.org



22

पुराने साधकों के लिए विपश्यना की पथ-प्रदर्शिका

इस पुस्तिका में दी गई जानकारी उन लोगों के लिए लाभप्रद है जिन्होंने श्री सत्यनारायणजी गोयनका अथवा उनके द्वारा मनोनीत किसी सहायक आचार्य के साथ विपश्यना का एक दस-दिवसीय शिविर पूरा कर लिया हो। इस साधना-विधि को सीखने के इच्छुक अन्य लोगों को चाहिए कि वे भी ऐसे ही किसी शिविर में सम्मिलित हों। यह ऐसी पुस्तिका नहीं है जिसे पढ़ कर लोग अपने आप ध्यान करना सीख जाएँ। वस्तुतः ऐसा करना हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है और जो लोग इस चेतावनी के बाद भी ऐसा करेंगे, वे अपनी जिम्मेदारी पर ही ऐसा करेंगे।

विपश्यना-शिविरों की तिथियों के बारे में कृपया विपश्यना-केन्द्रों से सम्पर्क करें।)

विपश्यना-शिविर का महत्व तभी है यदि यह आपके दैनिक जीवन में परिवर्तन लाए। यह तभी हो सकता है जबकि आपने यहाँ पर जो कुछ सीखा हो, उसका नियमित रूप से अभ्यास करते रहें।

अभ्यास की रूप-रेखा

शील

इसके लिए दैनिक जीवन के नीचे अंकित पाँच शीलों का पालन करना होता है—

1. प्राणियों की हिंसा से विरत रहना,
2. चोरी से विरत रहना,
3. व्यभिचार से विरत रहना,
4. गलत बात बोलने से विरत रहना,
5. नशे-पत्ते के सेवन से विरत रहना।

ध्यान-साधना

अपना अभ्यास बनाए रखने के लिए कम से कम इतना अवश्य करें—

- एक घण्टा सुबह और एक घण्टा शाम नियमित ध्यान;
- बिस्तर पर लेटे-लेटे सोने से पहले और जागने के बाद पाँच-पाँच मिनट के लिए ध्यान;
- यदि सम्भव हो तो सप्ताह में एक बार अपने गुरु-भाइयों/गुरु-बहनों के साथ एक घण्टे सामूहिक साधना;
- एक वर्ष में एक बार दस दिनों का एक शिविर अथवा स्वयं-शिविर; तथा
- जो भी अतिरिक्त समय मिले उसका उपयोग ध्यान के लिए।

दैनिक अभ्यास कैसे करें

आनापान

यदि चित्त अशान्त अथवा तन्द्रिल हो, यदि संवेदनाएँ न मिलती हों या मिलने पर उनके प्रति प्रतिक्रिया रोक पाना कठिन मालूम देता हो तो आनापान का अभ्यास करें।

यदि, आप चाहें तो काम आनापान से आरम्भ करके विपश्यना की ओर बढ़ जायँ और यदि आवश्यकता अनुभव हो तो पूरा घण्टा भर आनापान ही करते रहें।

आनापान के अभ्यास के लिए सारा ध्यान नासिका के नीचे, ऊपर वाले ओंठ के ऊपर केन्द्रित करें और हर श्वास-प्रश्वास की जानकारी बनाए रखें। यदि मन अत्यधिक अशान्त अथवा तन्द्रिल हो तो थोड़ी देर के लिए साँस ज़रा-सा तेज़ कर लें, अन्यथा सहज, स्वाभाविक सांस पर ही काम करें।

विपश्यना

अपने मन को, क्रमशः, सिर से पाँव तक और पाँव से सिर तक, शरीर के अंग-प्रत्यंग का निरीक्षण करते हुए और वहाँ पर होने वाली हर संवेदना को जानते हुए बार-बार घुमाते रहें। निरीक्षण तटस्थभाव से हो। किसी भी स्थान पर एकाध मिनट से अधिक समय के लिए न रुकें।

जिन अंगों में भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदना हो रही हो, उनका निरीक्षण अलग से करें। जिन अंगों में एक-जैसी सूक्ष्म-सूक्ष्म संवेदना हो रही हो, उनका निरीक्षण एक-साथ करें।

शरीर की यात्रा भिन्न-भिन्न प्रकार से करते रहें। अभ्यास को यन्त्रवत् न होने दें। यदि ऐसा होने लगे तो काम करने की विधि बदल दें।

मंगल-मैत्री

घण्टे भर के अभ्यास के बाद शिथिलीकरण द्वारा अपने मन और शरीर की उद्विग्नता दूर कर लें। तत्पश्चात् कुछ मिनटों के लिए अपना ध्यान शरीर में होने वाली सूक्ष्म संवेदनाओं पर केन्द्रित करें और अपने मानस को दूसरों के प्रति मंगल-भावों से भरें।

ध्यान-साधना के समय को छोड़ कर

इस अवधि में पूरी तन्मयता के साथ अपना सारा ध्यान अपने आवश्यक कार्य को निपटाने में लगाएँ। परन्तु इस बात को जाँचते रहें कि विभिन्न परिस्थितियों में आप अपनी सजगता और समता बनाए रख पाते हैं अथवा नहीं! जब कभी कोई समस्या आ खड़ी हो तब, यदि हो सके तो भले ही कुछ सैकिण्डों के लिए, साँस अथवा संवेदना को देखने लगें। इससे आपको अपना सन्तुलन बनाए रखने में सहायता मिलेगी।

दान

जो लाभ आपने अर्जित किया है उसमें दूसरों को भागीदार बनाएँ। ऐसा करने से स्व-केन्द्रित बने रहने का पुराना स्वभाव पलटने लगता है। साधक समझते हैं कि उनके बाँटने के लिए सबसे अच्छी वस्तु 'धर्म' है। धर्म सिखाने के लिए स्वयं सक्षम न होने के कारण वे दूसरों द्वारा इस साधना-विधि को ग्रहण करने में सहायक बन सकते हैं। इस पवित्र संकल्प के साथ वे अन्य साधकों पर होने वाले व्यय के लिए दान देते हैं।

यह दान ही विश्वभर में साधना-शिविरों और केन्द्रों पर होने वाले व्यय के निमित्त आय का एकमात्र साधन है।

निःस्वार्थ सेवा

शिविरों के संचालन अथवा तत्सम्बन्धी व्यवस्था करने अथवा अन्य प्रकार से चर्म-सेवा करने के उद्देश्य से अपना समय देना अथवा श्रम करना और भी बड़ा दान है। आचार्य और सहायक आचार्यों सहित जो भी बिना बदले में कुछ चाहे, इस कार्य में सहायता करते हैं, उनकी सेवा से दूसरों को तो लाभ मिलता ही है, साथ ही उन्हें अपना अहंकार दूर करने में भी सहायता मिलती है। इससे विपश्यना की विधि गहराई से समझने और धर्म-पथ पर आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त होता है।

धर्म को आत्म-समर्पण

इस ध्यान-विधि के साथ किसी प्रकार का सम्मिश्रण न होने दें। यदि आप चाहें तो दो-तीन विधियों का अलग-अलग प्रयोग करके देख लें, परन्तु इसके पश्चात् यथाशीघ्र यह निर्णय कर लें कि आपको कौन-सी विधि-विशेष को अपनाना है, जिससे आप अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकें।

विपश्यना के बारे में दूसरों को बतलाना

आप विपश्यना के बारे में दूसरों को जानकारी दे सकते हैं परन्तु इसकी विधि सिखलाने की कोशिश न करें, अन्यथा उनका भला करने के स्थान पर उनकी हानि भी कर सकते हैं। यदि कोई इस विधि को सीखना चाहें तो उन्हें किसी शिविर में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करें, क्योंकि उनको वहाँ पर समुचित रूप से प्रशिक्षित मार्ग-दर्शक मिलेगा।

कुछ सामान्य बातें

प्रगति धीरे-धीरे होती है। यह मान कर चलें कि आपसे कुछ गलतियाँ होंगी ही—इनसे सबक लें। जब आपको यह आभास हो कि आप असफल रहे हैं, तो मुस्कराएँ और फिर काम में लग जाएँ।

अपनी क्षमताओं के बारे में अव्यावहारिक दृष्टिकोण न अपनाएँ। ध्यान के समय चित्त का भटकना, ऊँघ आना आदि और भी अन्य प्रकार की कठिनाइयाँ आ जाना साधारण बातें हैं, जिनका सामना करना पड़ता है। इनसे निबटने के लिए कई तरीके बताए गए हैं। आप स्वयं देखिए कि इनमें से कौन-सा आपके लिए कारगर सिद्ध होता है।

आप चाहें तो अपने आचार्य अथवा उनके सहायक आचार्यों से मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

अपने गुरु भाइयों के साथ ध्यान करें। इससे आपकी साधना को बल मिलेगा।

साधनानुकूल वातावरण का लाभ उठाने की दृष्टि से जब भी हो सके—भले ही कुछ घण्टों अथवा दिनों के लिए—विपश्यना-केन्द्रों पर जाकर ध्यान करें। पुराने साधक होने के नाते आप किसी दस-दिवसीय शिविर के बीच में भी आकर उसमें सम्मिलित हो सकते हैं। परन्तु उस केन्द्र में स्थान-उपलब्धता के बारे में आश्वस्त होकर जाना ही उचित होगा।

"सब कुछ अनित्य है"—इसे जानना और जानकर ही मानना—यथार्थ ज्ञान है। इस अन्तर्दृष्टि के रहते हुए आप जीवन में आने वाले उतार-चढ़ावों

से अभिभूत नहीं होंगे। और जब आपकी आन्तरिक समता बनी रहेगी तो आप द्वारा किए जाने वाले सारे काम स्वयं आपके लिए तथा औरों के लिए भी मंगलकारी ही होंगे। इस प्रकार आप वर्तमान में सुखी जीवन बिताते हुए दुःख-विमुक्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर होते चले जाएँगे।

बहुधा-प्रयुक्त शब्दावली

प्रशिक्षण के तीन अंग—

सील—शील-सदाचार

समाधि—चित्त की एकाग्रता

पञ्ञा—प्रज्ञा, विवेक बोधि, मन को निर्मल बनाने वाली अन्तर्दृष्टि

त्रि-रत्न—

बुद्ध—बोधि-प्राप्त व्यक्ति

धम्म—धर्म; प्रकृति के नियम; किसी सम्यक् सम्बुद्ध की शिक्षा; निर्वाण का मार्ग

संघ—धर्म का जीवन जीकर निर्मल-चित्त हुआ व्यक्ति, सन्त पुरुष

मानसिक विकृतियों के मूल कारण—

राग—लोभ

दोस—द्वेष

मोह—अविद्या

आर्य अष्टांगिक मार्ग—

1. **सम्मा वाचा**—सम्यक् वचन
2. **सम्मा कम्मन्तो**—सम्यक् कर्मान्त
3. **सम्मा आजीवो**—सम्यक् आजीविका
4. **सम्मा वायामो**—सम्यक् व्यायाम
5. **सम्मा सति**—सम्यक् स्मृति, जागरूकता
6. **सम्मा समाधि**—सम्यक् समाधि
7. **सम्मा सङ्कप्पो**—सम्यक् संकल्प
8. **सम्मा दिट्ठि**—सम्यक् दर्शन

निब्बान (निर्वाण)—

अकृत, शरीर और चित्त से परे का अन्तिम सत्य।

तीन प्रकार की प्रज्ञा—

सुतमया पञ्ञा—श्रुतमयी प्रज्ञा, सुना-सुनाया ज्ञान

चिन्तामया पञ्ञा—चिन्तनमीय प्रज्ञा, चिन्तन-मनन द्वारा समझा हुआ ज्ञान

भावनामया पञ्ञा—भावनामयी प्रज्ञा, अपने अनुभव पर उतरा हुआ ज्ञान।

तीन लक्षण—

अनिच्च—अनित्य

दुक्ख—दुःख

अनत्त—अनात्म

कम्म (कर्म)—

चार आर्य सत्य—

1. दुक्ख—दुःख का अस्तित्व
2. दुक्ख-समुदय—दुःख का कारण (तृष्णा)
3. दुक्ख-निरोध—दुःख का निरोध (अवसान)
4. दुक्खनिरोधगामिनी-पटिपदा—दुःख-निरोध का उपाय (रास्ता)

आर्य आष्टांगिक मार्ग—

1. सम्यक् दृष्टि
2. सम्यक् संकल्प
3. सम्यक् वाणी
4. सम्यक् कर्म
5. सम्यक् आजीविका
6. सम्यक् व्यायाम
7. सम्यक् सति (जागरुकता)
8. सम्यक् समाधि

पाँच स्कन्ध—

1. रूप—शरीर, अष्टकलापों का पुंज
2. विञ्ञाण (विज्ञान)—जानना
3. सञ्ञा (संज्ञा)—पहचानना, मूल्यांकन करना
4. वेदना—संवेदना
5. सङ्खार (संस्कार)—प्रतिक्रिया, मन की जकड़न

चार चातु—

1. पथवी (पृथ्वी)—ठोसपना
2. जल—तरलता, नमी
3. वायु—हलन-चलन
4. अग्गि (अग्नि)—जलन

पाँच नीवरण—

(बाधाएँ अथवा शत्रु)

1. राग (राग)—लोभ
2. दोस (द्वेष)—द्वेष
3. थिनमिद्ध (स्त्यानमृद्ध)—आलस्य, प्रमाद
4. उद्धच्चकुक्कुच्च (औद्धत्य-कौकृत्य)—बेचैनी, उद्विग्नता
5. विचिकिच्छा (विचिकित्सा)—सन्देह

पाँच मित्र—

1. सद्धा (श्रद्धा)—श्रद्धा
2. विरिय (वीर्य)—वीर्य, पराक्रम
3. सति (स्मृति)—स्मृति, सावधनता, सजगता
4. समाधि (समाधि)—समाधि, एकाग्रता
5. पञ्ञा (प्रज्ञा)—प्रज्ञा, विवेक

रूपोत्पत्ति के चार कारण—

1. भोजन
2. वातावरण
3. मानसिक प्रतिक्रिया
4. पूर्व संस्कार

सतिपट्ठान (स्मृति-प्रस्थान)—

सजगता की चरम अवस्था, विपश्यना का पर्याय।

चार प्रकार के सतिपट्ठान—

1. कायानुपस्सना (कायानुपश्यना)
2. वेदनानुपस्सना (वेदनानुपश्यना)
3. चित्तानुपस्सना (चित्तानुपश्यना)
4. धम्मानुपस्सना (धर्मानुपश्यना)

दस पारमिताएँ—

1. नेखम्म (नैष्क्रम्य)—घर-बार त्यागना
2. सील (शील)—शील-सदाचार
3. विरिय (वीर्य)—वीर्य, पराक्रम
4. खन्ति (क्षान्ति)—क्षान्ति, सहिष्णुता
5. सच्च (सत्य)—सत्य का आश्रय
6. अधिट्ठान (अधिष्ठान)—दृढ़ निश्चय
7. पञ्ञा (प्रज्ञा)—प्रज्ञा, विवेक
8. उपेक्खा (उपेक्षा)—उपेक्षा, समता
9. मेत्ता (मैत्र्य)—मैत्री-भावना
10. दान (दान)—दान

भवतु सब्ब मंगलं! (सबका मंगल हो!)

साधु, साधु, साधु!

अच्छा कहा, अच्छा किया; हम इसका अनुमोदन करते हैं; हम भी चाहते हैं ऐसा ही हो!

●

23

बुद्ध उपदेशित सुखी गृहस्थ संहिता

मंगल-धर्म

मंगल-धर्म *मंगल* का भंडार है। मंगल-धर्म सर्वथा सार्वजनीन है। मानव मात्र के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। गृहस्थ के लिए सर्वोत्तम जीवन आदर्श है। कदम-कदम गृहीजीवन के उत्तरदायित्व को निभाते हुए, मानव-जीवन को उसके चरम लक्ष्य की ओर ले जाने वाला कल्याणकारी राजमार्ग है। पारिवारिक और सामाजिक सौमनस्य के लिए वरदान है, मंगल-धर्म। लोक और परलोक सुधारने के लिए विमल विधान है, मंगल-धर्म का कोई भी अंश ऐसा नहीं है, जो कि किसी भी गृहस्थ के लिए अग्राह्य हो।

आओ, देखें क्या है यह मंगल-धर्म?

मूर्खों की संगत न करना मंगल-धर्म है। सत्पुरुषों की संगत करना मंगल-धर्म है। जो पूज्य हैं उनका आदर-सत्कार करना मंगल-धर्म है। धर्मानुकूल प्रदेश में निवास करना मंगल-धर्म है। पूर्ण कर्मों का संचय मंगल-धर्म है। आत्मसंयम मंगल-धर्म है। जीवनयापन के लिए यथोचित विद्या और शिल्प का सीखना मंगल-धर्म है। विनीत रहना मंगल-धर्म है। सम्यक् वाणी मंगल-धर्म है। माता-पिता की सेवा मंगल-धर्म है। पुत्र-कलत्र का पालन-पोषण मंगल-धर्म है। निष्पाप व्यवसाय मंगल-धर्म है। दान और धर्माचरण मंगल-धर्म है। बन्धु-बान्धवों की सहायता करना मंगल-धर्म है। अनर्थकारी वर्जित कामों का न करना मंगल-धर्म है। पापों से विरत रहना मंगल-धर्म है। मदिरा-सेवन से बचना मंगल-धर्म है। सजग, सचेत, अप्रमत्त रहना मंगल-धर्म है। गुरुजन के प्रति आदरभाव रखना, विनम्र, सन्तुष्ट और कृतज्ञ रहना मंगल-धर्म है। यथोचित समय पर धर्म-श्रवण करना मंगल-धर्म है। श्रमण-सन्तों का दर्शन मंगल-धर्म है। यथोचित समय पर धर्म-परामर्श करना मंगल-धर्म है। तप तथा ब्रह्मचर्य-पालन मंगल-धर्म है। दुःख, दुःख़ का कारण, उसका निवारण तथा निवारण का उपाय—इन चारों सच्चाइयों का साक्षात्कार कर अनार्य से आर्य बन जाना मंगल-धर्म है। इन्द्रियातीत निर्वाणिक अवस्था का स्वयं प्रत्यक्षीकरण

कर लेना मंगल-धर्म है। जीवन के उतार-चढ़ाव में मन को अविचलित रखना मंगल-धर्म है। निर्भय, निर्मल और निःशोक रहना मंगल-धर्म है।

इन मंगल-धर्मों का पालन करने वाला कोई भी व्यक्ति चाहे जिस जाति-वर्ण, वर्ग-सम्प्रदाय व देश-काल का हो, सुखलाभी ही होता है। आओ, इन मंगल-धर्मों का निष्ठापूर्वक पालन करें। मैं अपने निजी अनुभवों से जानता हूँ कि इन धर्मों का उपदेश देना सरल है, इनकी महत्ता को बौद्धिक व हार्दिक स्तर पर स्वीकार कर लेना और भी सरल है। परन्तु कठिन है, अत्यन्त कठिन है, इन सबका अक्षरशः पालन करना। कदम-कदम पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बाहरी कठिनाइयाँ और उनसे भी अधिक अपनी ही भीतरी कठिनाइयाँ। परन्तु इन कठिनाइयों का सामना तो करना ही होगा। इनसे तो संग्राम करना ही होगा। यह संग्राम ही तो जीवन है। यही तो मंगल-धर्म की साधना है।

आओ, इस संग्राम से जूझते हुए, गिरते-पड़ते हुए, गिर-गिर कर फिर उठते हुए आगे बढ़ते रहने के लिए कृतसंकल्प हों! प्रयत्नरत हों! इसी में हमारा सच्चा मंगल निहित है!

श्रेष्ठ मंगल क्या है?

एक समय भगवान् श्रावस्ती नगर के जेतवन उद्यान में श्रेष्ठी अनाथपिंडिक द्वारा बनवाये संघाराम में विहार कर रहे थे। उस समय भगवान् से पूछा गया—

बहू देवा मनुस्सा च, मङ्गलानि अचिन्तयुं।
आकङ्खमाना सोत्थानं, ब्रूहि मङ्गलमुत्तमं॥

कल्याण की कामना करते हुए कितने ही देव और मनुष्य मंगल-धर्मों के सम्बन्ध में चिन्ता-मग्न रहे हैं। हे तथागत! आप ही कृपा कर बताइए कि वास्तविक श्रेष्ठ मंगल क्या है?

भगवान्—हे आयुष,

असेवना च बालानं – अज्ञानियों से दूर रहना,
पण्डितानञ्च सेबना – ज्ञानियों की संगति करना और
पूज़ा च पूजनेय्यानं – जो पूजनीय हैं उनकी पूजा करना
एतं मङ्गलमुत्तमं – यह श्रेष्ठ मंगल है।

पतिरूप देसवासो च – उपयुक्त देश में निवास करना,

पुब्बे च कतपुञ्ञता – पूर्व कर्मों का संचित पुण्य होना और

अत्तसम्मापणिधि च – स्वयं को सम्यक्रूपेन समाहित रखना
एतं मङ्गलमुत्तमं – यह श्रेष्ठ मंगल है।

बाहुसच्चञ्च सिप्पञ्च – अनेक विद्याओं और शिल्प-कलाओं में निपुण होना,
विनयो च सुसिक्खितो – विनय स्वभाव में सुशिक्षित होना और
सुभासिता च या वाचा – वार्तालाप में सुभाषी होना
एतं मङ्गलमुत्तमं – यह श्रेष्ठ मंगल है।

माता-पितु उपट्ठानं – माता-पिता की सेवा करना,
पुत्तदारस्स सङ्गहो – परिवार का पालन-पोषण करना और
अनाकुला च कम्मन्ता – आकुल-उद्विग्न न करने वाला निष्पाप व्यवसाय करना,
एतं मङ्गलमुत्तमं – यह श्रेष्ठ मंगल है।

दानञ्च धम्मचरिया च – दान देना, धर्माचरण करना,
ञातकानञ्च सङ्गहो – सजातीय सम्बन्धियों की सहायता कर पुण्य संग्रह करना
अनवज्जानि कम्मानि – और वर्जित दुष्कर्म न करना
एतं मङ्गलमुत्तमं – यह श्रेष्ठ मंगल है।

आरती विरती पापा – तन-मन से पापों का त्याग करना,
मज्जपाना च संयमो – मदिरा-सेवन से दूर रहना और
अप्पमादो च धम्मेसु – कुशल-धर्मों के पालन में सदा सचेत रहना
एतं मङ्गलमुत्तमं – यह श्रेष्ठ मंगल है।

गारवो च निबातो च – पूजनीय व्यक्तियों को गौरव देना, सदा विनीत रहना,
सन्तुट्ठि च कतञ्ञुता – सन्तुष्ट रहना, कृतज्ञ रहना और
कालेन धम्मस्सवनं – उचित समय पर धर्म-श्रवण करना
एतं मङ्गलमुत्तमं – यह श्रेष्ठ मंगल है।

खन्ती च सोवचस्सता – सहनशील होना, आज्ञाकारी होना,

समणानञ्च दस्सनं	– श्रमणों का दर्शन करना और
कालेन धम्मसाकच्छा	– उचित समय पर धर्म-चर्चा करना
एतं मङ्गलमुत्तमं	– यह श्रेष्ठ मंगल है।
तपो च ब्रह्मचरियञ्च	– तप-साधन करना, ब्रह्मचर्य-पालन करना
अरियसच्चान दस्सनं	– चार आर्य-सत्यों का दर्शन करना और
निब्बानसच्छिकिरिया च	– निर्वाण का साक्षात्कार करना
एतं मङ्गलमुत्तमं	– यह श्रेष्ठ मंगल है।
फुट्ठस्स लोकधम्मेहि	– [लाभ-अलाभ, यश-अपयश निन्दा-प्रशंसा और सुख-दुःख—इन आठ प्रकार के] लोक-धर्मों के स्पर्श से
चित्तं यस्स न कम्पति	– चित्त विचलित नहीं होने देना,
असोकं विरजं खेमं	– निःशोक, निर्मल और निर्भय रहना
एतं मङ्गलमुत्तमं	– यह श्रेष्ठ मंगल है।

एतादिसानि कत्वान, सब्बत्थमपराजिता।
सब्बत्थ सोत्थिं गच्छन्ति, तं तेसं मङ्गलमुत्तमं ॥

– जो उपर्युक्त [अड़तीस] मंगल धर्मों का पालन करते हुए सर्वत्र जय-लाभी होते हैं, सर्वत्र कल्याणलाभी होते हैं, उन मंगल-मार्गियों के ये ही श्रेष्ठ मंगल हैं।

गृहस्थ धर्म
(धम्मिक सुत्त)

गहट्ठवत्तं पन वो वदामि, यथाकरो सावको साधु होति।
न हेसो लब्भा सपरिग्गहेन, फस्सेतुं यो केवलो भिक्खुधम्मो ॥

कोई परिग्रही [गृहस्थ] सम्पूर्ण रूप से भिक्षुधर्म का परिपालन नहीं कर सकता। अतः मैं तुम्हें गृहस्थ धर्म बताता हूँ जिसे पालन करने वाला श्रावक गृही सज्जन बन जाता है, सत्पुरुष बन जाता है।

पाणं न हने न च घातयेय्य, न चानुजञ्ञा हनतं परेसं।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, ये थावरा ये च तसान्ति लोके ॥

– न स्वयं किसी प्राणी की हत्या करे, न किसी से करवाये और न ही दूसरों को हत्या करने की अनुमति दे। संसार में जितने भी स्थावर व जंगम प्राणी हैं, सबके प्रति हिंसा त्याग दे।

ततो अदिन्नं परिवज्जयेय्य, किञ्चि क्वचि सावको बुज्झमानो।
न हारये हरतं नानुजञ्ञा, सब्बं अदिन्नं परिवज्जयेय्य ॥

– और फिर समझदार श्रावक बिना दी हुई किसी अन्य की कोई वस्तु ग्रहण करना छोड़ दे। न चुराये और न ही किसी को चुराने की अनुमति दे। सब प्रकार की चोरी का सर्वथा परित्याग कर दे।

अब्रह्मचरियं परिवज्जयेय्य, अङ्गारकासुं जलितंव विञ्ञू।
असम्भुणतो पन ब्रह्मचरियं, परस्स दारं न अतिक्कमेय्य ॥

– समझदार व्यक्ति अब्रह्मचर्य को जलते हुए अंगारों से भरे गढ़े की तरह त्याग दे। और यदि ब्रह्मचर्य का पालन असम्भव हो तो पर-स्त्रीगमन तो न ही करे।

समगातो वा परिसग्गतो वा, एकस्स वेको न मुसा भणेय्य।
न माणये भणतं नानुजञ्ञा, सब्बं अभूतं परिवज्जयेय्य ॥

सभा या परिषद् में जाकर एक-दूसरे के लिए न झूठ बोले, न बुलवाए और न बोलने की अनुमति ही दे। सब प्रकार के मिथ्या भाषण को सर्वथा त्याग दे।

मज्जं च पानं न समाचरेय्य, धम्मं इमं रोचये यो गहट्ठी।
न पायये पिबतं नानुजञ्ञा, उम्मादनन्तं इति नं विदित्वा ॥

– जो गृहस्थ सद्धर्म का इच्छुक है उसे चाहिए कि मदिरा को उन्मादजनक समझकर उसे न स्वयं पिये, न पिलाये और न ही पीने की अनुमति दे।

मदा हि पापानि करोन्ति बाला, कारेन्ति चञ्ञे षि जने पमत्ते।
एतं अपुञ्ञायतनं विवज्जये, उम्मादनं मोहनं बालकन्तं॥

– मूढ़ लोग मद के कारण ही पापकर्म करते हैं और अन्य मद-प्रमत्त लोगों से कराते हैं। इस पाप के अड्डे को त्याग दे, जो कि उन्मादक है, मोहक है और बालरंजक है, यानी मूर्खों को प्रिय है।

पाणं न हाने न चादिन्नमादिये, मुसा न भासे न च मज्जपो सिया।
अब्रह्मचरिया विरमेय्य मेथुना, रत्तिं न भुञ्जेय्य विकालभोजनं॥

– प्राणी-हत्या न करे, चोरी न करे, झूठ न बोले और मदिरापान न करे। अब्रह्मचर्य, मैथुन से विरत रहे और रात्रि में विकाल भोजन न करे।

मालं न धारे न च गन्धमाचरे, मञ्चे छमायं व सयेथ सन्थते।
एतं हि अट्ठङ्गिकमाहुपोसथं, बुद्धेन दुक्खन्तगुना पकासितं॥

– न माला धारण करे और न सुगन्धि का सेवन करे। मंच पर सोये या जमीन पर या कम्बल-सतरंजी पर। इसे अष्टांगिक उपोसथ यानी अष्टशील कहते हैं। दुःख-पारंगत बुद्धों द्वारा यह प्रकाशित किया गया है।

ततो च पक्खस्सुपवस्सुपोसथं, चातुद्दसिं पञ्चदसिं च अट्ठमिं।
पाटिहारियपक्खं च पसन्नमानसो, अट्ठङ्गुपेतं सुसमत्तरूपं॥

– प्रत्येक पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी तथा अन्य पर्व के दिनों में शुद्ध चित्त से इन अष्ट-उपोसथ शील धर्मों का सम्यक् प्रकार से पालन करे।

ततो च पातो उपबुत्थुपोसथो, अन्नेम पानेन च भिक्खुसङ्घं।
पसन्नचित्तो अनुमोदमानो, यथारहं संविभजेथ विञ्ञू॥

– समझदार व्यक्ति उपोसथ व्रत धारण कर प्रातःकाल मुदित मन से श्रद्धापूर्वक भिक्षुसंघ को, सन्तों को अन्न और पेय का यथाशक्ति दान करे।

धम्मेन मातापितरो भरेय्य, पयोजये धम्मिकं सो वणिज्जं।
एतं गिही वत्तयं अप्पमत्तो, सयंपभे नाम उपेति देवेति॥

– अपने को किसी धार्मिक व्यवसाय में लगाये और धर्मपूर्वक माता-पिता का पोषण करे। जो गृहस्थ अप्रमत्त होकर इस प्रकार सदाचरण करता है वह स्वयंप्रभ देवों में जन्म लेता है।

शीलधर्म

शीलधर्म-पालन करना, सामाजिक व्यवस्था का पालन करना है। सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था किसी सम्प्रदाय-विशेष की व्यवस्था नहीं। अतः शीलधर्म पर किसी सम्प्रदायविशेष का एकाधिकार नहीं है। शील-सदाचार का पालन सभी सम्प्रदायों को मान्य है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज की सुव्यवस्था बनाए रखने में उसकी अपनी सुरक्षा निहित है। समाज की सुख-शान्ति बनाए रखने में उसकी अपनी सुख-शान्ति निहित है।

जब कोई व्यक्ति हत्या करता है, परायी वस्तु चुराता है, व्यभिचार करता है, झूठ बोलता है, मदिरा-प्रमत्त होता है तो सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करता है। सामाजिक सुख-शान्ति को भंग करता है। इसके विपरीत जब वह इन पाँच शीलों का पालन करता है तो सामाजिक सुव्यवस्था स्थिर करने में सहायक होता है। सामाजिक सुख-शान्ति कायम रखने में मंददगार बनता है। परन्तु ऐसा कर्के वह किसी पर एहसान नहीं करता। औरों के साथ-साथ अपना भी भला करता है। यही शीलधर्म है, सामाजिक धर्म है। अतः सर्वधर्म है।

पाँच शीलों का ठीक-ठीक पालन करने के लिए मन को वश में करना तथा उसे विकार-विहीन रखना बहुत आवश्यक है। इसीलिए साधना भावना है जिसके अभ्यास द्वारा मन संयत होता है, विरज-विमल होता है, सद्गुण-सम्पन्न होता है। साधना भावना द्वारा शील-पालन सरल होता है। शील-पालन द्वारा साधना-भावना सरल होती है। दोनों अन्योन्याश्रित है। साधना भावना के अभ्यास को पुष्ट करने के लिए जब हम कुछ दिनों के लिए अन्य सारी प्रवृत्तियों को त्यागकर गम्भीरतापूर्वक निरन्तर अभ्यास करने का निर्णय करते हैं, तो किसी साधना-शिविर में सम्मिलित होते हैं। परन्तु एक साथ अधिक दिनों तक किसी शिविर में बार-बार न जा सकें तो सप्ताह में, पक्ष में अथवा महीने में ही एक दिन घर पर अथवा किसी एकान्त स्थान पर साधना-भावना का निरन्तर अभ्यास करना आवश्यक है। ऐसे समय पाँच शील तो पालते ही हैं परन्तु उनके अतिरिक्त तीन शील और ग्रहण करते हैं, यथा—विकाल भोजन यानी दोपहर बाद के भोजन से विरत रहते हैं, शृंगार-प्रसाधन तथा आमोद-प्रमोद से विरत रहते हैं; विलासी शैय्या पर शयन से विरत रहते हैं। इससे साधना-भावना में प्रभूत सहायता मिलती है।

उपरोक्त पाँच शीलों की भांति ये तीन शील भी सार्वजनीन हैं। सामाजिक व्यवस्था में इनका सीधा सम्बन्ध भले न हो, परन्तु व्यक्ति-व्यक्ति

को सुधारने में इनका बड़ा हाथ है। इनसे मन पर संयम होता है। सादगी का सद्गुण पुष्ट होता है। त्याग की भावना प्रबल होती है। और सबसे बड़ी बात यह कि इनके सहयोग से साधना-भावना में गहरा उतरना सम्भव होता है जिससे कि साधक सर्वतोमुखी लाभ हासिल करता है। व्यक्ति लाभान्वित होता है तो समाज लाभान्वित होता है। व्यक्ति-व्यक्ति में सुधार होता है तो सम्पूर्ण समाज में सुधार होता है।

इन शीलों के पालन से प्रत्यक्षतः हमारा जीवन सुधरता है, लोक सुधरता है। लोक सुधरे बिना परलोक कैसे सुधरे भला? अतः यह विश्वास किया जा सकता है कि शील-पालन से यदि हमारा लोक सुधरता है तो परलोक भी अवश्य सुधरता है।

जिन शीलों के पालन से व्यक्ति और समाज दोनों सुधरते हों, लोक और परलोक दोनों सुधरते हों, उनके पालन में हजार कठिनाइयाँ हों तो भी हमें उनका सामना करना ही चाहिए। जब तक सभी शीलों के पालन में सम्पूर्ण सम्पुष्टि नहीं आ जाती, तब तक जितने शील पाल सकते हैं उन्हें दृढ़तापूर्वक पालते हुए शेष के पालन की पूरी-पूरी चेष्टा करें और शनैः-शनैः धर्मपथ पर आगे बढ़ने के लिए कृतसंकल्प हों। इसी में हम सबका मंगल समाया हुआ है।

सुखी-गृहस्थ

संन्यासी का जीवन धन्य है, पूज्य है, प्रणम्य है, क्योंकि विरक्त संन्यासी का जीवन जीकर जीवन्मुक्त हो सकना सुकर है। परन्तु समाज में बहुत थोड़े ही लोग होते हैं जो कि शुद्ध संन्यास-जीवन जीने का सत्प्रयास कर पाते हैं। बहुसंख्यक तो गृहस्थ-जीवन ही जीते हैं। गृहस्थ का कीचड़-भरा जीवन जीना सुकर है, परन्तु निर्मल जीवन जीना दुष्कर है। वस्तुतः निर्मल गृहस्थ-जीवन ही सुखी गृहस्थ-जीवन है।

मुख्य प्रश्न यह है कि अनेक ऐन्द्रिय रस-भोगों को भोगने वाला, पारिवारिक, सामाजिक और राजकीय जंजालों में उलझा रहने वाला सामान्य गृहस्थ निर्मल, स्वस्थ, सुखी जीवन कैसे जीये? वह गृहत्यागी नहीं है इसलिए लोक-विमुख हो नहीं सकता। लोक अभिमुख रहते हुए भी वह अपना इहलोक कैसे सुधारे? परलोक कैसे सुधारे? दुःख-विमुक्ति कैसे प्राप्त करे? मनुष्य-जीवन को कैसे सार्थक-सफल बनाये? क्या पुरुषार्थ करे, जिससे कि गृही रहते हुए भी जीवन सफल हो?

ऐसे प्रश्न भगवान् के जीवनकाल में भी अनेक सद्गृहस्थों के मन में

उठते थे और तत्सम्बन्धी समाधान के लिए लोग उनसे मार्ग-निर्देशन लेने जाते थे। ऐसे अवसरों पर भगवान् ने जो उपदेश दिये, वे सभी गृहस्थों के लिए अत्यन्त कल्याणकारी हैं। 2500 वर्ष पश्चात् आज भी वे उतने ही ताजा हैं, सजीव हैं, सार्थक हैं। अतः शाश्वत हैं, सार्वकालिक हैं, सतत प्रासंगिक हैं। शुद्ध धर्म की तरह ये उपदेश भी सभी गृहस्थों के लिए समान रूप से कल्याणकारी हैं, भले गृहस्थ चाहे जिस जाति, कुल, गोत्र, वर्ण, सम्प्रदाय अथवा रंग-रूप का हो। अतः ये उपदेश सार्वजनीन हैं, सर्वहितकारी हैं। अत्यन्त व्यावहारिक हैं। सभी गृहस्थों के लिए अभ्यास किये जाने योग्य है।

इहलोकीय हित-सुख के साधन : चार सद्गुण

एक बार भगवान् कोलिय प्रदेश में विहार कर रहे थे। उस समय कोलियपुत्र दीर्घजानु नाम का गृहस्थ भगवान् से मिलने आया। उन्हें सादर अभिवादन कर वह एक ओर बैठ गया और उसने इसी आशय का प्रश्न किया—"भन्ते भगवान्! हम गृहस्थ हैं, कामभोगी हैं, घर-गृहस्थ की अनेक जिम्मेदारियों में उलझे रहते हैं। कृपया बताइए, हमारे लिए कौन-सा मार्ग है, जिस पर चल कर हम गृहस्थ रहते हुए भी अपना लोक-परलोक दोनों सुधार लें?"

व्यवहार-कौशल में निपुण भगवान् ने गृहस्थ को इहलोक के हित-सुख साधन हेतु चार सद्गुण संग्रह करना आवश्यक बताया—

पहला सद्गुण है-पराक्रम-पुरुषार्थ। जो व्यक्ति जिस किसी कला, शिल्प, उद्योग-धन्धे, पेशे-व्यवसाय, रोजी-रोजगार के माध्यम से अपना जीवन-यापन करता है, उसमें उसे दक्ष होना आवश्यक है। दक्ष होने के लिए अनिवार्य है कि वह उस पेशे का गहराई से अध्ययन करे, मनन करे, विश्लेषण करे। उसकी बारीकियों को स्वयं समझे और आलस-प्रमाद-विहीन होकर सतत अध्यवसाय द्वारा उसमें व्यावहारिक निपुणता प्राप्त करे ताकि उस पेशे को व्यवहार में उतार कर पूर्णतया सफल हो, अर्थलाभी हो। लोकीय सुख के लिए यही पराक्रम-पुरुषार्थ है।

सद्गृहस्थ की सचमुच अनेक जिम्मेदारियाँ होती हैं। उसे स्वावलम्बी होकर स्वाभिमानपूर्वक अपना भरण-पोषण तो करना ही होता है। अपने पर आश्रित वृद्ध माता-पिता की सेवा-सुश्रूषा करनी होती है। अपने पुत्र-कलत्र का पालन-पोषण करना होता है। असमर्थ जाति-बन्धुओं की यथाशक्य सहायता करके उन्हें स्वावलम्बी बनाने का सत्कार्य करना होता है। गृहत्यागी श्रमण-ब्राह्मणों के भरण-पोषण के लिए यथासामर्थ्य दान देना होता है। समाज के अन्य अभावग्रस्त व्यक्तियों की यथाशक्ति सहायता करनी होती है। और सबके लिए अपने पुरुषार्थ से, शारीरिक और बौद्धिक श्रम से, धर्म-न्यायपूर्वक सम्पदा अर्जित करनी पड़ती है।

सद्गृहस्थ का दूसरा सद्गुण यह है कि वह इस प्रकार निज श्रम से धर्मपूर्वक अर्जित की हुई सम्पदा की सतर्कतापूर्वक सुरक्षा करे। कहीं किसी गफलत या नासमझी में उसे गँवा न बैठे। राज्य के नियमों की पूरी जानकारी रखते हुए नियमानुकूल उसकी रक्षा करे। कोई निरंकुश शासक या शासनाधिकारी नियमों के विरुद्ध उसे जब्त न कर ले। अपनी नासमझी या लापरवाही से यह सम्पदा कहीं चोरों द्वारा चुरा न ली जाए, आग में जलकर भस्म न हो जाए, जल में

बहकर नष्ट न हो जाए अथवा कोई अप्रिय व्यक्ति चालबाजी से उस पर अपना उत्तराधिकार न जमा ले। इन पाँचों खतरों से अपनी अर्जित सम्पदा का सावधानीपूर्वक परिरक्षण करना गृहस्थ के लिए दूसरा आवश्यक सद्‌गुण है।

तीसरा सद्‌गुण है धन का उचित उपयोग। इसमें भी व्यवहार-कुशलता उतनी ही आवश्यक है। समझदार गृहस्थ को चाहिए कि अपनी आय और व्यय का लेखा-जोखा ठीक रखे। जीवन-स्तर ऐसा रखे, जिससे सन्तुलन बिगड़ने न पाये। कहीं ऐसा न हो कि आय से अधिक व्यय करने लगे और नासमझी में कंगाली गले बाँध ले। कहीं ऐसा भी न हो कि आय केवल संचय, संग्रह, परिग्रह के लिए ही होती चली जाए तथा उसका उपयोग न अपने लिए हो, न औरों के लिए। निपट कंजूसी में ही सारा जीवन न खो दे। कमाई हुई सम्पदा का बुद्धिमानीपूर्वक सदुपयोग करे। आय के उचित अनुपात में ही व्यय का स्तर रखे, न अधिक, न कम।

चौथा सद्‌गुण है - सत्संगति। बुरी संगति से बुरी लत लग जाने की आशंका बनी रहती है जिससे सम्पदा का अपव्यय होता है और चरित्र नाश होता है। परन्तु यदि किसी धर्मप्राण सत्पुरुष की संगति रहेगी तो शीलपालन के लिए, धर्मधारण करने के लिए, सात्विक जीवन जीने के लिए और प्रज्ञा पुष्ट करने के लिए प्रेरणा मिलती रहेगी, मार्गदर्शन मिलता रहेगा। अतः किसी सन्त पुरुष की कल्याण-मित्रता प्राप्त करना सद्‌गृहस्थ का चौथा गुण है।

जब कोई गृहस्थ कुसंगत में पड़ जाता है तो व्यभिचार, वेश्यागमन, नशे-पते या जुए का व्यसन लगा लेता है और इस प्रकार आमदनी से अधिक व्यय के रास्ते खुल जाते हैं और शीघ्र ही वह अपना कमाया हुआ धन खोकर कंगाल, दुःखी हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई कुसंगत से बचकर किसी कल्याणमित्र की सत्संगति करता है तो इन बुरे व्यसनों से दूर रहता है और अपनी आय के अनुकूल खर्च कर सकने का निश्चय, निर्णय निभा पाता हुआ अपने धन को अपव्यय से बचाता है। यह बचाया हुआ धन गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारी पूरी करने में लगाता है।

गृहस्थ के लिए यह चारों सद्‌गुण उसके लोकीय हित-सुख के साधन होते हैं। पूर्वकाल में भी थे, आज भी हैं और भविष्य में भी होंगे।

इहलोकीय हित-सुख के लिए इन चार आवश्यक सद्‌गुणों का उपदेश देकर भगवान् ने परलोकीय हित-सुख के लिए भी चार सद्धर्मों का उपदेश दिया जो कि सभी गृहस्थों के लिए सभी समय धारण करने योग्य है और सबके लिए समान रूप से कल्याणकारी भी।

पारलौकिक हित-सुख के साधन : चार धर्म-सम्पदा

इहलोकीय हित-सुख के लिए चार आवश्यक सद्‌गुणों का उपदेश देकर भगवान् ने कोलिय-पुत्र दीर्घजानु को परलोकीय हित-सुख के लिए भी चार धर्म-सम्पदाओं का उपदेश दिया जो कि सभी गृहस्थों के लिए समान रूप से धारण करने योग्य हैं, समान रूप से कल्याणकारी हैं।

ये धर्म-सम्पदाएँ ऐसी हैं जिनके संचय-संग्रह से सद्‌गृहस्थ अपना पारलौकिक हित-सुख तो साधता ही है, परन्तु इन्हें धारण करने का अभ्यास करते हुए यह देखता है कि ये इहलौकिक हित-सुख साधन में भी आवश्यक सिद्ध हो रही हैं।

इन चारों में से **पहली धर्म-सम्पदा है - श्रद्धा।** श्रद्धा धर्म की नींव है। बिना श्रद्धा धर्म का मंगल-भवन टिक नहीं सकता। बिना श्रद्धा धर्म लँगड़ा है। कोई भी व्यक्ति बिना श्रद्धा के धर्म-पथ पर एक कदम भी चल नहीं सकता। लेकिन श्रद्धा शुद्ध हो, विवेक चक्षुवाली हो, तो ही कल्याणकारी होती है। अन्ध श्रद्धा हानिकारक है। यदि भगवान् गौतम बुद्ध के प्रति श्रद्धा जगी है तो सही माने में यह तभी कल्याणकारी होगी जबकि बोधि के प्रति श्रद्धा जागे और भगवान् की बोधि से हम प्रेरणा प्राप्त करें। इसी प्रकार सद्धर्म के प्रति श्रद्धा जगी है तो धर्म के गुण ध्यान में आयें और धर्म धारण करने की प्रेरणा जागे। सन्त-समूह पर श्रद्धा जगी है तो आर्य सन्तों के सद्‌गुण हमारी चेतना को अनुप्राणित करें। ऐसी सविवेक श्रद्धा ही सद्‌गृहस्थ की अनमोल धर्म-सम्पदा है।

सद्‌गृहस्थ की **दूसरी धर्म-सम्पदा है - शील।** सद्‌गृहस्थ प्रयत्नपूर्वक हिंसा-हत्या से विरत रहता है। बिना दिया हुआ पराया धन चुराने से, छीनने से, दबाने से, हथियाने से, अपनाने से विरत रहता है। व्यभिचार से विरत रहता है। मिथ्या भाषण से विरत रहता है। ये पंचशील सद्‌गृहस्थ की अनमोल धर्म-सम्पदा हैं।

सद्‌गृहस्थ की **तीसरी धर्म-सम्पदा है - त्याग।** श्रमपूर्वक, बिना किसी को धोखा दिए धन-अर्जन करना गृहस्थ के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है। परन्तु यही धन-अर्जन जब केवल संचय, संग्रह, परिग्रह के हीन उद्देश्य से ही किया जाए तो पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की होड़ की थकानभरी दौड़ गृहस्थ के जीवन को दुःखमय बना देती है। लेकिन यदि धन-अर्जन के साथ-साथ उसके सदुपयोग का विवेक बना रहता है तो सद्‌गृहस्थ अपने अर्जित, संचित धन का यथासमय, यथायोग्य त्याग करना सीखता है। इस प्रकार दान की पुण्य सम्पदा

एकत्र करता है। दान जब शुद्ध होता है तभी पुण्यकारक होता है यानी चित्त को पुनीत करने वाला होता है। अन्यथा दान दान नहीं होता, सही माने में पुण्य नहीं होता। उदाहरण के तौर पर यदि कोई व्यक्ति चारणसदृश हमारी प्रशंसा-प्रशस्ति के पुल बाँधे जा रहा हो और हम उससे खुश होकर उसे कुछ दे देते हैं, तो वह धन का त्याग तो अवश्य है, पर दान की धर्म-संपदा नहीं है। हमने खुशामद की कीमत चुकाई है। पैसे से प्रशंसा खरीदी है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति हमारे अपयश की, निन्दा की धमकी देता है, हम पर ताने कसता हुआ कहता है—"तुम कैसे धनवान हो जो मेरी माँग पूरी नहीं करते? तुम कैसे विपश्यी साधक हो जो मेरा दुःख दूर नहीं करते?" तो हम इस धमकी से घबरा उठते हैं, भयभीत हो उठते हैं कि यह व्यक्ति हमारी कंजूसी का, दानहीनता का अपयश घर-घर फैलाते फिरेगा, हमारी प्रतिष्ठा को आँच आएगी। यों भयभीत चित्त की चेतना से उस धमकाने वाले याचक को जो धन देते हैं, वह दान की पुण्य-सम्पदा नहीं है। वह तो निन्दक का मुँह बन्द करने की कीमत चुकानी हुई। दूषित चित्त से त्यागा हुआ धन त्याग-सम्पदा नहीं है, दान-सम्पदा नहीं है। चित्त में अपरिग्रह का भाव है। याचक पूज्य हो तो उसके प्रति श्रद्धा का, हीन हो तो उसके प्रति मैत्री-करुणा का भाव हो। यों शुद्ध चित्त से, उदार चेतना से, मुक्तहस्त से दिया हुआ दान ही दान सम्पदा है।

श्रद्धा, शील और त्याग की धर्म-सम्पदा संचित करता हुआ गृहस्थ चौथी **धर्म-सम्पदा** अर्जित करने का अभ्यास करता है। यह है - **प्रज्ञा-सम्पदा।** केवल श्रुतमयी और चिन्तनमयी प्रज्ञा ही नहीं, बल्कि वह भावनामयी प्रज्ञा का अभ्यास करात है। इसका जिक्र करते हुए भगवान् ने संक्षेप में कहा है—

कुलपुत्तो पञ्ञवा होति, उदयत्थ गामिनीया पञ्ञाय समन्नागतो, अरियाय, निब्बेधिकाय सम्मा दुक्खक्खयगामिनीया। अयं बुच्चति पञ्ञा सम्पदा।

यानी गृहस्थ कुल-पुत्र प्रज्ञावान होता है—उदय-व्यय की अनुभूति कराने वाली प्रज्ञा, आर्य बनाने वाली प्रज्ञा, सभी शारीरिक और मानसिक घनत्व की मरीचिका को बींधकर ठोसपन समाप्त कर देने वाली, भेदन करने वाली प्रज्ञा, सभी दुःखों के क्षयस्वरूप निर्वाण का साक्षात्कार करा देने वाली प्रज्ञा उपलब्ध करता है। यही विपश्यना साधना वाली प्रज्ञा है जो कि सद्गृहस्थ की चौथी धर्म-सम्पदा है।

श्रद्धा, शील, त्याग [दान] और प्रज्ञा की चारों धर्म-सम्पदाएँ निश्चित

रूप से सद्गृहस्थ के पारलौकिक हित-सुख का साधन बनती हैं और साथ ही साथ लोकीय हित-सुख में भी सहयोगी सिद्ध होती हैं।

गृहस्थों के लिए भगवान् ने जो लोकीय सद्गुण वाली सम्पदाएँ यानी परिश्रम-पराक्रम-सम्पदा, संरक्षण-सम्पदा, समजीविका-सम्पदा और कल्याणकारिता-सम्पदा बताई तथा चारों पारलौकिक सम्पदाएँ यानी श्रद्धा, शील त्याग और प्रज्ञा की धर्म-सम्पदाएँ बताईं, ये प्रत्येक गृहस्थ के ग्रहण करने, धारण करने, संवर्धन करने और संचित करने योग्य हैं जिससे कि इन संपदाओं से सम्पन्न होकर वह अपना लोक और परलोक दोनों सुधार सके।

आओ! इन आठों सम्पदाओं का प्रयत्नपूर्वक अर्जन करें और अपना वास्तविक हित-सुख साधें! मंगल-कल्याण साधें! स्वस्ति-मुक्ति साधें!

सद्गृहस्थ की चार लौकिक सम्पदाएँ

भगवान् के अनुयायियों की चार परिषदें थीं जो कि **परिसानं चतस्सन्नं** कहलाती थीं—[भिक्षुसंघ, भिक्षुणीसंघ, गृही उपासकसंघ और उपासिकासंघ]। भगवान् समय-समय पर इन चारों को धर्म-मार्ग का उपदेश देते थे। धर्म-साधना का अभ्यास कराते थे। मार्ग सबके लिए एक ही था—आर्य अष्टांगिक मार्ग। आठ अंगों वाला वह मार्ग जिस पर चल कर चारों परिषदों का कोई भी सदस्य शील, समाधि और प्रज्ञा में प्रतिष्ठित होता हुआ आर्य बन सके। साधना भी सबके लिए एक ही। **चत्तारो सतिपट्ठाना**—[कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना] जिसे उन्होंने दुःख-विमुक्ति के लिए और निर्वाण प्राप्त करने के लिए **एकायनो मग्गो** यानी एकमात्र मार्ग कहा। अतः इन चारों में से चाहे जिस परिषद् का व्यक्ति हो, मार्गदर्शन का मूल आधार **अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो** एवं **चत्तारो सतिपट्ठाना** मार्ग ही होता था। परन्तु फिर भी चारों के जीवन जगत् की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होने के कारण समय-समय पर उन्होंने चारों के लिए अलग-अलग व्यावहारिक उपदेश भी दिये। आचार-संहिता भी अलग-अलग बनी।

गृहस्थ के लिए मात्र पाँच शीलपालन करने अनिवार्य हैं जबकि गृहत्यागी के लिए 200 से भी अधिक। गृहस्थ के लिए नितान्त अपरिग्रही होना अनावश्यक है परन्तु गृहत्यागी के लिए अत्यन्त अनिवार्य। गृहस्थ के लिए कंगाली कलंक है, अवांछनीय है। उसे भार बन कर किसी पर आश्रित होना अत्यन्त अशोभनीय है। उसके लिए स्वावलम्बन ही शोभनीय है। गृहस्थ ईमानदारी के साथ कड़ी मेहनत करके धनोपार्जन करे। अपनी और राष्ट्र की सम्पदा बढ़ाये, खुशहाली बढ़ाये। भुखमरी गृही-धर्म नहीं है। किसी भूखे गृहस्थ को भगवान् के पास धर्म सीखने के लिए लाया गया तो भगवान् ने आदेश दिया कि इसे पहले भरपेट भोजन कराओ। भुखमरे व्यक्ति में और इसी प्रकार भुखमरे समाज में धर्म प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इसीलिए उनकी मंगल कामना रही—

देवो वस्सतु कालेन, सस्स सम्पत्ति हेतु च ।
फीतो भवतु लोको च, राजा भवतु धम्मिको ॥

यानी वर्षा समय पर हो, शस्य सम्पदा बढ़े। लोक में धर्म के आधार पर समृद्धि फैले। समाज धर्मनिष्ठ हो, जिसके लिए यह आवश्यक है कि शासक धर्मनिष्ठ हो। शासक की अच्छाई-बुराई का प्रभाव जनता पर पड़े बिना नहीं रहता।

सद्गृहस्थ के चार लौकिक सुख

इसीलिए गृहस्थ को उपदेश देते हुए उन्होंने कहा कि वह धन-उपार्जन करे परन्तु अपने परिश्रम-पराक्रम से, ईमानदारीपूर्वक, न्याय-नीतिपूर्वक, धर्मपूर्वक, बिना किसो को धोखा दिए। **अपनी मेहनत और ईमानदारी से कमाई हुई लोकीय सम्पदा का होना** गृहस्थ के लिए लोकीय सुख का कारण बनता है। यह किसी भी गृहस्थ का **पहला लोकीय सुख है।** जो व्यक्ति लोकीय सम्पदा हासिल करता है, जिसके उपार्जन में उसने कभी कोई श्रम नहीं किया अथवा जिसे उसने अनीतिपूर्ण ढंग से हासिल किया तो वह सम्पदा उसके सही सुख का कारण नहीं बन सकती। ऐसा व्यक्ति गृहस्थ के इस प्रथम सुख से वंचित रह जाता है।

गृहस्थ का **दूसरा लोकीय सुख है**—अपनी मेहनत और ईमानदारी से कमाई हुई **सम्पदा का उचित उपभोग और संविभाजन यानी दान द्वारा सदुपयोग।** यदि कोई गृहस्थ अपनी कमाई हुई सम्पदा का लोभ और कंजूसीवश कोई उपयोग नहीं करता, न अपने लिए, न औरों के लिए तो ऐसा व्यक्ति सद्गृहस्थ के दूसरे सुख से वंचित रह जाता है। यदि कोई गृहस्थ नासमझीवश अथवा असावधानीवश अपनी कमाई हुई सम्पदा किसी अन्य व्यक्ति के प्रभुत्व में दे देता है और परिणामस्वरूप आवश्यकता पड़ने पर स्वयं अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अथवा लोक-कल्याणहित दान देने के लिए भी उसमें से कुछ नहीं प्राप्त कर सकता तो वह भी गृहस्थ जीवन के इस दूसरे सुख से वंचित रह जाता है।

सद्गृहस्थ का तीसरा लोकीय सुख है—ऋण-मुक्ति का सुख। यदि कोई गृहस्थ नासमझी से अथवा परिस्थितियों से मजबूर होकर ऋण ले लेता है और ऋण की अदायगी नहीं कर पाता तो गृहस्थ जीवन के तीसरे सुख से वंचित रह जाता है। उऋण रहने का अपना सुख है। ऋणमुक्त होकर ही कोई यह सुख भोग सकता है।

सद्गृहस्थ का चौथा लोकीय सुख है—शील सम्पदा, शील-पालन। बड़ा सुख है शील-पालन में। कोई व्यक्ति नासमझी या असावदानी के कारण दुराचारी हो जाता है और हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ या मद्य-सेवन में से किसी एक या एक से अधिक का सहारा लेकर अपना शील नष्ट कर लेता है तो वह शील पालन के इस अतुल सुख से वंचित रह जाता है। ऐसा व्यक्ति जब किसी कल्याणमित्र की संगति द्वारा धर्म धारण करने की कला सीखता है

और शील में पुष्ट होता है तो इस चौथे सुख का अधिकारी होता है।

गृहस्थ के इन चारों सुखों का उपदेश भगवान् ने गृहस्थ उपासक सुदत्त अनाथपिंडिक को श्रावस्ती के जेतवन में विहार करते हुए दिया। अनाथपिंडिक भगवान् का अग्र उपासक शिष्य था। उसने समय-समय पर इन चारों सुखों को भोगा था।

1. उसने अपने श्रम से, धर्मपूर्वक धन-सम्पदा अर्जित की थी। इसलिए विपुल धन सम्पदा का स्वामी होने का सुख भोगा था।

2. इस धर्मपूर्वक स्व-अर्जित सम्पदा को उसने अपने और अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए प्रयोग में लाकर तथा विपुल दान द्वारा उसका सदुपयोग करके दूसरा सुख भोगा था। एक बार उसके जीवन में ऐसी स्थिति भी आई जबकि उसे धन के लिए मोहताज हो जाना पड़ा। उसका कमाया हुआ बहुत-सा धन नष्ट हो गया। जो बचा वह ऐसे लोगों के हाथ में था जो उसे लौटा नहीं रहे थे। ऐसी अवस्था में वह कुछ काल तक दूसरे सुख से वंचित रहा। परन्तु धर्म के प्रभाव से उसे इस अवस्था से शीघ्र ही छुटकारा मिला और वह शेष जीवनपर्यन्त उसका संयमित उपभोग एवं दान देने में सदुपयोग कर सका। इस प्रकार गृहस्थ जीवन के इस दूसरे सुख को भोगते रह सका।

3. धनहीन होने पर भी उसे किसी का ऋण नहीं चुकाना था, न अधिक, न कम। अतः ऋणमुक्त होने का सुख उसने सदैव भोगा।

4. भगवान् के और भगवान् के जरिए धर्म के सम्पर्क में आने से पहले उसने अपना शील-सदाचार भंग किया था। परन्तु विपश्यना धर्म मिलने के बाद शील में पुष्ट हुआ। न शरीर से, न वाणी से और न ही मन से उसने कभी ऐसा दुष्कर्म किया जो कि दोषपूर्ण हो। ऐसे निर्दोष जीवन के सुख को भोगता हुआ वह अपना गृही जीवन सफल बना सका। प्रमादवश जो कभी दुराचरण कर चुका था, अब धर्म-साधना द्वारा उसका निराकरण कर मुक्त हुआ। जैसे कि—

यो च पुब्बे पमज्जित्वा, पच्छा सो न पमज्जति।
सोमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तोव चन्दिमा॥

- जो प्रमादवश गलत काम कर भी चुका हो परन्तु बाद में नहीं करता और दुष्कर्मों से छुटकारा पा लेता है, वह मेघमुक्त आकाश में चन्द्रमा की भाँति प्रकाशमान होता है।

यों चारों सुखों से सम्पन्न गृहस्थ चित्त को एकाग्र करता हुआ,

विपश्यना का अभ्यास करता है, अन्तर्मुखी होना सीखता है। अन्तर्मुखी होकर भीतर ही भीतर उत्पन्न होने वाली सुखद-दुःखद संवेदनाओं को निर्लिप्त होकर यथाभूत देखना सीखता है। वह निर्लिप्त होकर देखता है कि सम्पदा के होने की, उसके उपभोग और सदुपयोग की और ऋणमुक्त होने की सुखद संवेदनाओं की तुलना में विपश्यना के अभ्यास द्वारा निर्दोष जीवन जीने की सुखद संवेदना कई गुना अधिक प्रबल है।

इसलिए हम धर्मपूर्वक स्व-अर्जित सम्पदा, उसका सदुपयोग और ऋणमुक्ति-सुख को तो उपलब्ध करें, पर इनसे भी अधिक शील-सम्पदा सम्पन्न होने का सुख उपलब्ध कर मेघ-मुक्त चन्द्रमा की भाँति प्रकाशमान होकर सही माने में मंगललाभी हों!

सद्गृहस्थ की चार अभिलाषाएँ

किसी भी सामान्य सद्गृहस्थ की ये चार स्वाभाविक अभिलाषाएँ होती हैं।

1. वह चाहता है कि **विपन्न न रहे।** विपन्नता, गरीबी, भुखमरी, कंगाली गृहस्थ के लिए, गृहस्थ समाज के लिए अभिशाप है। भुखमरी में धर्म का पालन तो दूर, उसका चिन्तन भी कठिन हो जाता है। अतः गृहस्थ के लिए समृद्धि, सम्पन्नता की अभिलाषा स्वाभाविक है। समझदार गृहस्थ होता है तो यह भी समझता है कि धन-सम्पदा उसके अपने श्रम से अर्जित हो, धर्मपूर्वक अर्जित हो। बिना परिश्रम किए जो धन आता है वह उपयोगी नहीं होता, सन्तोषकारक नहीं होता। उसका अपव्यय ही होता है। इसी प्रकार अधर्मपूर्वक धन आता है तो वह भी सुख-शान्ति का कारण नहीं बनता। पराई सम्पदा दबोचकर, चुराकर, लूटकर, छीनकर, छल-छद्म द्वारा अपनी बना ले तो उससे अशान्ति ही उत्पन्न होती है। ऐसी सम्पदा का सदुपयोग नहीं होता, दुरुपयोग ही होता है। अतः समझदार सद्गृहस्थ की अभिलाषा यही होती है कि वह श्रमपूर्वक, धर्मपूर्वक, न्याय-नीतिपूर्वक समृद्धि-सम्पदा अर्जित करे। यह पहली अभिलाषा है जिसकी पूर्ति किसी भी सद्गृहस्थ के लिए प्रिय होती है, मनोरम होती है, सुखद होती है पर दुर्लभ होती है।

2. श्रमपूर्वक, धर्मपूर्वक सम्पदा अर्जित कर ले तो सद्गृहस्थ की दूसरी अभिलाषा होती है कि **वह समाज में, गुरुजनों में यश प्राप्त करे।** भुखमरी की अवस्था में एक व्यक्ति धर्म-नीति की तिलांजलि देकर दुष्कर्म करने पर उतारू हो सकता है। पर जब भुखमरी नहीं हो तो सद्गृहस्थ की अभिलाषा होती है कि

उसके द्वारा शरीर या वाणी से, छोटा या बड़ा, कोई भी ऐसा काम न हो जाए जो उसके अपयश का कारण बने। बिना दुष्कर्म किए यदि झूठी निन्दा होती है तो समझदार सद्गृहस्थ उससे विचलित नहीं होता। परन्तु दुष्कर्म करने पर जो निन्दा होती है उससे वह लज्जित होता है, उत्तापित होता है। अतः स्वभावतः समझदार सद्गृहस्थ की यह अभिलाषा होती है कि वह धर्मपूर्वक यश का जीवन जीये। यह दूसरी अभिलाषा है जिसकी पूर्ति किसी भी सद्गृहस्थ के लिए मनोरम होती है, प्रिय होती है, सुखद होती है, पर दुर्लभ होती है।

3. धर्मपूर्वक, श्रमपूर्वक सम्पदा प्राप्त करके और शुभ कर्मों द्वारा यश प्राप्त करके एक सद्गृहस्थ की यह तीसरी अभिलाषा होती है कि वह **चिरकाल तक स्वस्थ जीवन जीये**। सद्गृहस्थ बखूबी समझता है कि मनुष्य-जीवन बड़ा अनमोल है। इसी जीवन में अन्तर्मुखी होकर सत्य-दर्शन करते-करते, आत्म-दर्शन करते-करते परम सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है, जीवन्मुक्त हुआ जा सकता है। इसीलिए वह स्वस्थ, दीर्घायु जीवन जीना चाहता है। यह तीसरी अभिलाषा है जिसकी पूर्ति किसी भी सद्गृहस्थ के लिए प्रिय होती है, मनोरम होती है, सुखद होती है; पर दुर्लभ होती है।

4. धर्मपूर्वक श्रमपूर्वक सम्पदा प्राप्त करके, स्वजनों-गुरुजनों में धर्मपूर्वक यश प्राप्त करके, चिरकाल तक स्वस्थ जीवन जी लेने पर सद्गृहस्थ की चौथी अभिलाषा होती है कि **शरीर छूटने पर उसकी दुर्गति न हो, सद्गति हो, वह स्वर्गगामी हो**। वह बखूबी समझता है कि मरने के बाद यदि अपायगति, अधोगति प्राप्त हुई तो उसके बाहर निकलना अत्यन्त कठिन हो जाएगा। अधोलोक के जीवन में धर्म धारण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऊर्ध्वलोकगामी होगा तो जो धर्म-साधना यहाँ सीखी है, उसका अभ्यास कायम रख सकेगा। धर्म पथ पर अग्रसर होता जाएगा। परम विमुक्त अवस्था के समीप होता जाएगा। अतः सद्गृहस्थ अभिलाषा करता है कि मर कर स्वर्गलोकगामी हो। यह चौथी अभिलाषा है जिसकी पूर्ति किसी भी सद्गृहस्थ के लिए प्रिय होती है, मनोरम होती है, सुखद होती है; पर दुर्लभ होती है।

सद्गृहस्थ की चार सम्पत्तियाँ

भगवान् ने अपने अग्र उपासक गृपति अनाथपिंडिक को उपदेश देते हुए कहा कि इन चारों प्रिय, मनोरम, सुखद अभिलाषाओं की पूर्ति के चार धर्म-साधन हैं, जिनसे दुर्लभ सुलभ हो जाता है। ये चार साधन हैं—श्रद्धा-सम्पत्ति, शील-सम्पत्ति, त्याग-सम्पत्ति और ब्रह्म-सम्पत्ति।

क्या है श्रद्धा-सम्पत्ति ?

किसी सम्यक् सम्बुद्ध को बोधि के प्रति श्रद्धा जागती है, उनके गुणों के प्रति श्रद्धा जागती है—ऐसे हैं भगवान् जो अरहन्त हैं, सम्यक् सम्बुद्ध हैं, विद्या और आचरण-सम्पन्न हैं, सुगत हैं, लोक के ज्ञाता हैं, अनुपम हैं। गलत रास्ते चलने वालों को सही रास्ते चलाने में कुशल हैं। देव-मनुष्यों के शास्ता हैं, आचार्य हैं। बुद्ध हैं, भगवान् हैं।

सम्प्रदायविहीन शुद्ध-धर्म पर श्रद्धा जागती है—धर्म स्पष्ट है, सुआख्यात है, सान्दृष्टिक है, अकालिक है, कोई भी आए और इसे अनुभव करके देखे, उन्नति की ओर ले जाने वाला है और प्रत्येक समझदार व्यक्ति के लिए धारण कर सकने योग्य है।

संत समाज की पवित्रता के प्रति श्रद्धा जागती है—ये सन्त सुमार्गगामी हैं, ऋजुमार्गगामी हैं, ज्ञानमार्गगामी हैं, समीचीनमार्गगामी हैं; शील, समाधि और प्रज्ञा में प्रतिष्ठित होकर अनार्य से आर्य बन गए हैं, निर्वाणदर्शी हो गए हैं। अतः सन्त हैं, निर्मल चित्त हैं। इसी कारण पूज्य हैं, वरेण्य हैं, आतिथेय्य हैं, दाक्षिणेय्य हैं. लोक में अनुपम पुण्य-क्षेत्र हैं।

सद्गृहस्थ जब श्रद्धा-सम्पत्ति से सम्पन्न होता है तब उसके चित्त की कठोरता दूर होती है, मृदुलता आती है। कटुता दूर होती है, मधुरता आती है। कुटिलता दूर होती है, ऋजुता, सरलता आती है। ऐसा व्यक्ति किसी को धोखा देकर सम्पदा नहीं बटोरता। धर्मपूर्वक ही सम्पदा अर्जित करता है और सम्पदा अर्जित करने में सफल होता है।

क्या है शील सम्पत्ति ?

जो सद्गृहस्थ शील-सम्पन्न होता है, वह किसी प्राणी की हत्या नहीं करता, चोरी नहीं करता, व्यभिचार नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, मादक पदार्थों का सेवन नहीं करता। शरीर या वाणी से कोई ऐसा दुष्कर्म नहीं करता जिसके कारण उसे निन्दा का पात्र बनना पड़े। यों शील-सम्पन्न हुआ व्यक्ति अपयश का भागी नहीं होता, यशभागी ही होता है।

क्या है त्याग सम्पत्ति ?

सद्गृहस्थ केवल संचय, संग्रह, परिग्रह के लिए ही धन अर्जित नहीं करता। वह मात्सर्य-रहित चित्त का जीवन जीता है। जो उपार्जित करता है उसका संविभाग करता है। उसे बाँटता है। प्रसन्न चित्त से, खुले दिल से, खुले हाथों दान देता है। यही सद्गृहस्थ की दान-सम्पदा है, जिससे सम्पन्न

होकर जब वह किसी सत्पुरुष को भोजन, वस्त्र, औषधि, आवास का दान देता है तो आयुबल का ही दान देता है जिसके फलस्वरूप उसे स्वयं आयुबल प्राप्त होता है। वह दीर्घजीवी होता है, स्वस्थ होता है।

क्या है प्रज्ञा-सम्पत्ति ?

सद्‌गृहस्थ शील-सदाचार का जीवन जीता हुआ चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास कर काया में कायानुपश्यना, वेदना में वेदनानुपश्यना, चित्त में चित्तानुपश्यना और धर्म में धर्मानुपश्यना करता है। यों अन्तर्मुखी होकर विपश्यना का अभ्यास करता है तो देखता है कि किस प्रकार समय-समय पर पाँच आवरण-नीवरण बाधक बन कर उसके चित्त पर छाए जा रहे हैं, मानो पाँच दुश्मन (राग, द्वेष, आलस्य, बेचैनी एवं सन्देह) उसके सिर पर सवार हो गये हों।

कभी-कभी वह देखता है उसका चित्त विषम लोभ से अभिभूत होता जा रहा है, जिसकी वजह से जो नहीं करना चाहिए, वह कर बैठता है। जो करना चाहिए वह नहीं कर पाता। अकरणीय के करने से और करणीय के न करने से उसके सुख व ऐश्वर्य की हानि होती है। यही होता है जब उसका चित्त द्वेष-दौर्मनस्य से भर उठता है अथवा आलस-प्रमाद से भर उठता है अथवा बेचैनी व आत्मग्लानि से भर उठता है अथवा शंका-सन्देह से भर उठता है। विपश्यी गृहस्थ श्रावक समय-समय पर प्रकट होने वाले इन पाँचों आवरण-नीवरणों को दुश्मनों के रूप में पहचानता है और समझता है कि ये चित्त के क्लेश हैं, मैल हैं। यों समझ कर उन्हें प्रयत्नपूर्वक दूर करता है। उन नीवरणों का उच्छेदन कर स्थूल-स्थूल सत्य का दर्शन करता हुआ उनका विभाजन, विघटन, विश्लेषण करता है और सूक्ष्म सत्यों का साक्षात्कार करता हुआ परम सत्य निर्वाण का दर्शन कर लेता है। अनार्य से आर्य बन जाता है। ऐसा सद्‌गृहस्थ महाप्रज्ञ कहलाता है। पृथुप्रज्ञ कहलाता है। प्रज्ञा-सम्पदा से सम्पन्न होता है।

प्रज्ञा के बल पर परम सत्य की ओर यात्रा करता हुआ वह अपने उन सभी कर्म-संस्कारों का क्षय कर लेता है जो कि अपायगति, अधोगति की ओर ले जाने वाले हैं। निर्वाण का साक्षात्कार कर गृहस्थ जब स्रोतापन्न हो जाता है, मुक्ति के स्रोत में पड़ जाता है तो अधोगति से पूर्णतया छुटकारा पा लेता है। उसके जो थोड़े से जन्म शेष रह जाते हैं वे ऊर्ध्वलोक के ही होते हैं। इस प्रकार प्रज्ञा में पुष्ट होकर गृहस्थ अपनी सद्‌गति के सम्बन्ध में निश्चित और आश्वस्त हो जाता है।

यों श्रद्धा, शील, दान और प्रज्ञा द्वारा सद्गृहस्थ अपनी चारों लोकीय अभिलाषाएँ सहज ही पूरी कर लेता है। दुर्लभ सुलभ कर लेता है।

सद्गृहस्थ के चार कर्तव्य

ऐसा आर्य सद्गृहस्थ जब उत्साह से, सत्प्रयत्न से, बाहुबल से, पसीने से, धर्मानुसार सम्पदा कमाता है तो उन्हें चार प्रकार से ही खर्च करता है। अपने चार कर्तव्य पूरे करता है।

(क) आर्य श्रावक उस सम्पत्ति से अपना भरण-पोषण करता है। अपने आपको स्वस्थ, सबल रखता है, सम्यक् प्रकार से सुखी रखता है, धर्मपूर्वक सुखी रखता है। अपने माता-पिता, पुत्र-कलत्र, स्वजन-परिजन का भरण-पोषण करता है। नौकर-चाकरों, संगी-साथियों, मित्र-दोस्तों का भरण-पोषण करता है। उन सबको सबल, स्वस्थ रखता है। उन्हें सम्यक् प्रकार से सुखी रखता है, धर्मपूर्वक सुखी रखता है। प्राप्त समृद्धि-सुविधाओं के सम्यक् परिभोग के क्षेत्र में यह उसका पहला कर्त्तव्य है, जिसे कि वह पूरा करता है।

(ख) आर्य-श्रावक श्रमपूर्वक और धर्मपूर्वक कमाई हुई सम्पदा का समुचित संरक्षण करता है। उसे आग से, पानी से, चोर से, शासक से, अप्रिय अनुचित उत्तराधिकारी से अथवा अन्य आपदाओं से बचाता है और उस सम्पदा द्वारा अपने आपको विभिन्न प्रकार की विपदाओं से बचाता है। आत्म-संरक्षण करता है। आत्म-कल्याण साधता है। प्राप्त समृद्धि-सुविधाओं के सम्यक् परिभोग के क्षेत्र में यह उसका दूसरा कर्तव्य है, जिसे वह पूरा करता है।

(ग) आर्य श्रावक श्रमपूर्वक और धर्मपूर्वक कमाए हुए धन से **पंचबलि-कर्म** करता है। यहाँ बलि का अर्थ हत्या नहीं है, बल्कि पाँच उचित क्षेत्रों में दान देना है, जैसे कि—

1. **जातिबलि कर्म** यानी अपने कुटुम्ब के लोगों को सन्तुष्ट, प्रसन्न रखने के लिए यथासामर्थ्य देता है।

2. **अतिथिबलि कर्म** यानी घर आए हुए अतिथि को सन्तुष्ट, प्रसन्न रखने के लिए यथासामर्थ्य देता है।

3. **पूर्वप्रेतबलि कर्म** यानी अपने पूर्व पूर्वजों के पुण्यार्थ यथासामर्थ्य दान देता है।

4. **राजबलि कर्म** यानी शासक को सन्तुष्ट, प्रसन्न रखने के लिए यथाशक्ति देता है।

5. **देवताबलि कर्म** यानी कुल-देवता के सम्मान में यथाशक्ति दान देता है।

प्राप्त समृद्धि-सुविधाओं के सम्यक् परिभोग के क्षेत्र में यह उसका तीसरा कर्तव्य है, जिसे वह पूरा करता है।

(घ) आर्य श्रावक व धर्मपूर्वक कमाया हुआ धन उन श्रमणों और ब्राह्मणों को दान करता है जो मद-प्रमाद से विरत हैं, क्षमाशील हैं, सदाचारी हैं, जो अपने आपका दमन करते हैं, शमन करते हैं, जो अपने आपको सर्वथा विमुक्त करते हैं। इन सत्पुरुषों को दिया गया दान उसके कल्याण का कारण बनता है। प्राप्त समृद्धि सुविधाओं के सम्यक् परिभोग के क्षेत्र में यह उसका चौथा कर्तव्य है, जिसे वह पूरा करता है।

जो सद्गृहस्थ धर्मपूर्वक व श्रमपूर्वक कमाई हुई अपनी सम्पदा का इन चार प्रकार से सम्यक् परिभोग करता है उसी के लिए यह कहा जा सकता है कि उसने अपनी सम्पदा का सदुपयोग किया। सम्पत्ति-समृद्धि काल के अवसर का समुचित लाभ उठाया। उसे पुण्य में लगाया। उचित पात्र के लिए, उचित विधि से उसका व्यय किया। परन्तु इन चारों को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से व्यय करता है तो यही कहा जाएगा कि उसने अपना अर्जित धन अनुचित क्षेत्र में खर्च किया। अनुचित पांत्र के लिए, अनुचित विधि से नष्ट ही किया।

धर्मपूर्वक, श्रमपूर्वक सम्पदा कमा कर उसका धर्मपूर्वक समुचित सदुपयोग ही करें। अनुचित दुरुपयोग न करें। इसी से सद्गृहस्थ का लोग और परलोक सुधरता है, सुखद होता है, मंगलमय होता है। यों अपना सही सुख साधें! सही मंगल साधें!

गृही आचार-संहिता

नमस्कार किसको करें ?

मगध देश की राजधानी राजगृह।

श्रेष्ठीपुत्र सिगाल सुबह-सुबह उठ कर नगर के बाहर गया। भीगे वस्त्रों और भीगे केश से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे और ऊपर छहों दिशाओं की ओर हाथ जोड़-जोड़कर नमस्कार करने लगा। उन दिनों की अनेक पूजन-विधियों और कर्मकाण्डों में से यह भी एक रहा होगा। उसी समय भगवान वेणुवन विहार से निकले और राजगृह नगर में भिक्षाटन के लिए चले। रास्ते में श्रेष्ठीपुत्र सिगाल को छहों दिशाओं की ओर नमस्कार करते हुए देखा तो पूछा—"गृहपति-पुत्र! यह क्या कर रहे हो ?"

सिगाल ने उत्तर दिया—"भन्ते! भगवान्! दिशाओं को नमस्कार कर रहा हूँ। मेरे पिता ने मरते समय आदेश दिया था कि दिशाओं को नमस्कार करना। अतः पिता के अन्तिम आदेश का पालन कर रहा हूँ।"

"गृहपति-पुत्र! आर्यधर्म में इस प्रकार छहों दिशाओं को नमस्कार नहीं किया जाता।" भगवान् ने कहा।

"अच्छा हो, भगवान्! कृपया मुझे आर्यधर्म का ज्ञान करायें।"

श्रेष्ठीपुत्र सिगाल की प्रार्थना पर उस समय भगवान् ने जो उपदेश दिया वह केवल सिगाल के लिए ही नहीं, बल्कि सभी गृहस्थों के लिए अत्यन्त कल्याणकारी है। गृहस्थों के लिए यह आचार-संहिता शुद्ध आर्यधर्म की भाँति सार्वजनीन है, सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है। आज के किसी भी सद्गृहस्थ के लिए उतनी ही उपादेय है, जितनी कि 2600 वर्षों पूर्व सिगाल के लिए थी।

आओ! भगवान् के इस मंगल उपदेश को समझें।

भगवान् ने कहा—"गृहपतिपुत्र! आर्य गृहस्थ चार कर्म-क्लेशों से दूररहता है। चार प्रकार की दूषित चेतना पर आधारित पापकर्म त्यागता है। छह प्रकार के विनाशकारी आचरणों से बचता है। इस भाँति 14 प्रकार से संयमित जीवन जी कर छहों दिशाओं को आच्छादित कर पूर्णतया सुरक्षित रहता है और अपने इहलोक और परलोक दोनों को सुधारता है। इस जीवन को सफल, सार्थक कर लेता है और शरीर छोड़ कर मरने पर सुगति प्राप्त करता है।

"हत्या, चोरी, व्यभिचार और असत्य-भाषण—ये चारों कर्म-क्लेश हैं, मैले कर्म हैं। ऐसे कर्म जिनसे क्लेश ही बढ़ता है।"

"ये चारों वाणी और शरीर के दुष्कर्म हैं जिनसे व्यक्ति अन्य प्राणियों

का सुख छीनता है, उनके दुःख का कारण बनता है और परिणामस्वरूप स्वयं भी दुःखी रहता है।"

"इन चारों से विरत होकर एक सद्‌गृहस्थ साधना द्वारा अपने चित्त को वश में ही नहीं करता बल्कि उसे निर्मल बनाता है, विकारविहीन करता है और इस प्रकार राग, द्वेष, मोह और भय इन चारों दूषित मनोचेतनाओं पर आधारित कोई भी पापकर्म नहीं करता।"

"इन आठ प्रकार के दोषों से विरत रहने वाला सद्‌गृहस्थ बुद्धिपूर्वक अपनी संचित धन-सम्पदा की सुरक्षा करता है। धन-सम्पदा के नष्ट हो जाने के छः कारणों से दूर रहता है। धन विनाश के ये छः कारण हैं—

(1) मद्य-सेवन, (2) कुसमय गली-कूचों की सैर, (3) खेल-तमाशों का सेवन, (4) जुए का सेवन, (5) पाप-मित्रों की कुसंगति और (6) आलस।

समझदार गृहस्थ इस बात को बखूबी समझता है कि ये सभी बुरी आदतें धन-विनाश और पतन का कारण होती हैं।

धन-विनाश के छः कारण

(1) मद्य-सेवन के व्यसन के कारण—

(अ) आँखों के सामने देखते-देखते धन बर्बाद होता है।

(आ) विग्रह-कलह बढ़ता है।

(इ) नाना प्रकार के रोगों का दरवाजा खुलता है।

(ई) अपयश होता है।

(उ) निर्लज्जता आती है।

(ऊ) प्रज्ञा क्षीण होती है।

(2) कुसमय गली-कूचों की सैर करने की आदत के कारण—

(अ) स्वयं असुरक्षित होता है।

(आ) घर पर स्त्री-पुत्र असुरक्षित होते हैं।

(इ) धन-सम्पदा असुरक्षित होती है।

(ई) किसी अन्य द्वारा किए गए पाप-कर्मों का स्वयं संदेहभाजन बनता है।

(उ) झूठे लांछन लगते हैं।

(ऊ) वस्तुतः अनेक दुःखकारक दुष्कर्म कर भी लिए जाते हैं।

(3) खेल-तमाशे के व्यसन के कारण—

इस परेशानी में ही सदा आकुल-व्याकुल रहता है कि आज कहाँ नाच,

कहाँ गीत, कहाँ वाद्य, कहाँ कथावार्ता, कहाँ करताल और कहाँ मृदंग का आयोजन है ?

नित नए नाच-गाने, खेल-तमाशे, सिनेमा-थिएटर, नाइट क्लबों में जाते रहने का व्यसन धन, चरित्र और स्वास्थ्य तीनों का नाश करता है।

(4) जुए के व्यसन के कारण—

(अ) जीते तो बैर उत्पन्न होता है।

(आ) हारे तो धन खोने का शोक उत्पन्न होता है।

(इ) देखते-देखते आँखों के सामने धन की हानि होती है।

(ई) उसके वचन का समाज में कोई विश्वास नहीं करता।

(उ) अच्छे मित्रों और साथियों द्वारा तिरस्कृत होता है।

(ऊ) अविवाहित हो तो कोई पिता अपनी कन्या विवाह में नहीं देना चाहता, यह जानते हुए कि यह अपनी पत्नी और सन्तान का भरण-पोषण नहीं कर सकेगा।

(5) पापी मित्रों की कुसंगति के कारण—

कोई भला आदमी उसका साथ नहीं देता। केवल धूर्त्त, व्यभिचारी, पियक्कड़, गुण्डे, धोखेबाज और लम्पट ही उसके संगी-साथी होते हैं।

दुर्जनों की संगति और सज्जनों की असंगति से संचित सम्पदा गँवाता है और नाना प्रकार के दुःखों का भागी होता है।

(6) आलस का गुलाम होने के कारण—

(अ) बहुत सर्दी है।

(आ) बहुत गर्मी है।

(इ) बहुत देर हो गई।

(ई) बहुत सबेरा है।

(उ) बहुत भूखा हूँ।

(ऊ) बहुत खा लिया है।

ऐसे बहाने ढूँढ कर करणीय काम नहीं करता। परिणामस्वरूप अप्राप्त सम्पदा प्राप्त नहीं कर पाता। प्राप्त सम्पदा गँवा देता है।

सही मित्र की पहचान

सम्पत्ति-विनाश के इन छः कारणों में पापमित्रों की कुसंगति वाले पाँचवें कारण को भगवान् ने बहुत महत्त्व दिया। सचमुच अक्सर सत्संगति के अभाव में और कुसंगति में पड़ जाने के कारण ही गृही-पुत्र नाना प्रकार के दुःखदायी व्यसनों का गुलाम बन जाता है। इसलिए उसे यह जानना आवश्यक है कि कौन व्यक्ति मित्र के रूप में उसका बैरी और कौन सही मित्र है।

भगवान् ने कहा, "गृहपति-पुत्र! इन चारों को मित्र के रूप में बैरी समझना चाहिए—

(1) परधन-हारक मित्र—ऐसा लोभी व्यक्ति—

(अ) पराया धन अपहरण करने के उद्देश्य से ही दोस्ती गाँठता है।

(आ) थोड़ा देकर बहुत हथियाना चाहता है।

(इ) ऐसे काम करता है जिनसे नाना प्रकार की विपत्तियां उत्पन्न होती हैं।

(ई) अपना मतलब साधने के लिए संगत करता है।

(2) बातूनी मित्र—ऐसा व्यक्ति किसी काम में नहीं आता, केवल बातें ही बनाता है। वह—

(अ) भूतकाल में सहायता करने के लिए कितना आतुर था, इस सम्बन्ध में झूठी डींग हाँकता है।

(आ) भविष्य में काम पड़े तो किस प्रकार सहायता करेगा, इस सम्बन्ध में बढ़ा-चढ़ाकर बातें करता है।

(इ) वर्तमान के सम्बन्ध में हवाई पुल बाँधता है।

(ई) परन्तु सचमुच काम आ पड़ने पर मुँह छिपाता है।

(3) खुशामदी मित्र—ऐसा मित्र—

(अ) बुरे काम में भी हाँ में हाँ मिलाता है।

(आ) अच्छे काम में भी हाँ में हाँ मिलाता है।

(इ) सामने प्रशंसा करता है।

(ई) पीठ-पीछे निन्दा करता है।

(4) विनाश-सहायक मित्र—ऐसा व्यक्ति—

(अ) नशे-पते के व्यसन में फँसने में साथ देता है।

(आ) वेवक्त गली-कूचों में आवारागर्दी करने में साथ देता है।

(इ) खेल-तमाशे में मशगूल रहने में साथ देता है।

(ई) प्रमादकारी जुए के व्यसन में साथ देता है।

भगवान् ने कहा कि इन चारों श्रेणी के व्यक्तियों को मित्र के बाने में बैरी जानकर इनकी संगत शीघ्रातिशीघ्र छोड़ने में ही भलाई है।

इसी प्रकार चार प्रकार के सही मित्रों को अपना हितैषी बनाकर उनकी संगत करने में भलाई है—

(1) उपकारी मित्र—ऐसा व्यक्ति—

(अ) प्रमत्त हुए मित्र को संकट से बचाता है।

(आ) प्रमत्त हुए मित्र की सम्पदा नष्ट होने से बचाता है।

(इ) विपत्ति में पड़े मित्र को शरण देता है।

(ई) काम पड़ने पर मित्र को आवश्यकता से दुगुना देता है।

(2) समान सुख-दुःखी मित्र—ऐसा सुख-दुःख का साथी—

(अ) अपनी गोपनीय बात भी मित्र को बताता है।

(आ) मित्र की गोपनीय बात औरों से गुप्त रखता है।

(इ) विपत्ति में मित्र का साथ नहीं छोड़ता।

(ई) आवश्यकता पड़ने पर मित्र के लिए प्राण तक देने को तत्पर रहता है।

(3) हितैषी मित्र—भले-बुरे को आख्यात करने वाला ऐसा व्यक्ति—

(अ) मित्र को पाप से बचाता है।

(आ) मित्र को पुण्य में लगाता है।

(इ) मित्र को अश्रुत धर्म सुनाता है।

(ई) मित्र को सद्गति का मार्ग बताता है।

(4) अनुकम्पक मित्र—सहानुभूति रखने वाला ऐसा व्यक्ति—

(अ) मित्र के निर्धन होने पर प्रसन्न नहीं होता।

(आ) मित्र के धनी होने पर प्रसन्न होता है।

(इ) मित्र की निन्दा करने वाले को रोकता है।

(ई) मित्र की प्रशंसा करने वाले को बढ़ावा देता है।

यों उपरोक्त चार प्रकार के कुमित्रों का साथ छोड़कर, चार प्रकार के सुमित्रों की संगत करने वाला गृही विपत्ति से बचता है, सम्पत्तिसम्पन्न होता है।

वास्तविक छः दिशाएँ

तदनन्तर भगवान् ने श्रेष्ठीपुत्र सिगाल को आर्य-धर्म में छः दिशाओं की सही पूजन-विधि सिखाई-समझाई। कोई व्यक्ति किस प्रकार दिशाओं को धर्म से आच्छादित कर यानी **धर्मपूर्वक जीवन जीकर** सभी दिशाओं में अपनी सुरक्षा स्थापित करता है।

छः दिशाएँ क्या हैं ?

माता-पिता को पूर्व दिशा, गुरुजनों को दक्षिण दिशा, पुत्र-कलत्र को पश्चिम दिशा, मित्र-साथियों को उत्तर दिशा, नौकर-चाकरों को नीचे की दिशा और श्रमण-ब्राह्मणों को ऊपर की दिशा जाननी चाहिए।

1. माता-पिता की सेवा

पुत्र को पाँच प्रकार से माता-पिता की सेवा करनी चाहिए—

(क) इन्होंने मेरा भरण-पोषण किया है, इसलिए मुझे इनका भरण-पोषण करना चाहिए।

(ख) इन्होंने मेरे प्रति कर्तव्य पूरा किया है, मुझे भी इनके प्रति कर्तव्य पूरा करना चाहिए।

(ग) इन्होंने कुल-वंश कायम रखा है, मुझे भी कुल-वंश कायम रखना चाहिए।

(घ) इन्होंने मुझे दायद (विरासत) दी है। मुझे भी दायद प्रतिपादन करना चाहिए।

(ङ) मृत पितरों के पुण्यार्थ श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए।

यों पाँच प्रकार से सेवित हों, माता-पिता पुत्र पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं—

(च) उसे पापकर्मों से बचाते हैं।

(छ) उसे पुण्यकर्मों में लगाते हैं।

(ज) उसे शिल्प सिखाते हैं।

(झ) योग्य जीवन-संगिनी से उसका सम्बन्ध कराते हैं।

(ञ) समय पाकर उसे दायद निष्पादन करते हैं।

इन पाँच बातों से सेवित माता-पितारूपी पूर्व-दिशा पाँच प्रकार से पुत्र पर अनुकम्पा करती है और इस प्रकार गृही के लिए पूर्व दिशा प्रतिच्छन्न होती है, ढँकी होती है, योगक्षेमपूर्ण, भयरहित होती है।

2. गुरुजनों की सेवा

शिष्य को पाँच प्रकार से आचार्य की सेवा करनी चाहिए—

(क) तत्परतापूर्वक उठकर।

(ख) आवश्यकता के समय उपस्थित रहकर।

(ग) सुश्रूषा करके।

(घ) परिचर्या करके।

(ङ) सत्कारपूर्वक विद्या सीखकर।

यों पाँच प्रकार से सेवित हो आचार्य शिष्य पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं—

(च) उसे सुविनीत करते हैं।

(छ) उसे भली प्रकार सुशिक्षा ग्रहण करना सिखाते हैं।

(ज) विद्या-शिल्प लुप्त न हो, इस योग्य पात्र द्वारा कायम रहे, इस उद्देश्य से उसे अच्छी तरह आख्यात करते हैं।

(झ) संगी-साथियों में उसकी प्रशंसा कर प्रोत्साहन देते हैं।

(ञ) हर दिशा में सुरक्षित रह सकने के अनुकूल उसे प्रशिक्षित करते हैं।

उपरोक्त पाँच प्रकार से शिष्य द्वारा सेवित हो दक्षिण दिशारूपी आचार्य उस पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं और यों दक्षिण दिशा प्रतिच्छन्न, छाई हुई, ढँकी, सुरक्षित, क्षेमयुक्त और भय-विहीन होती है।

3. पत्नी की सेवा

पति को पाँच प्रकार से पत्नी की सेवा करनी चाहिए—

(क) उसका सम्मान करके।

(ख) उसे अपमानित न करके।

(ग) व्यभिचार न करके।

(घ) उसे ऐश्वर्य-प्रभुत्व प्रदान करके।

(ङ) उसे अलंकार-आभूषण प्रदान करके।

यों पाँच प्रकार से सेवित हो पत्नी पाँच प्रकार से पति पर अनुकम्पा करती है—

(च) गृह-संचालन के कर्तव्य भली प्रकार पूरे करती है।

(छ) स्वजन-परिजन, नौकर-चाकरों को भली प्रकार प्रसन्न-सन्तुष्ट रखती है।

(ज) व्यभिचारिणी नहीं होती।

(झ) पति द्वारा अर्जित धन की सुरक्षा करती है।

(ञ) सभी घरेलू कार्यों में निरालस व दक्ष होती है।

यों पाँच प्रकार से पति द्वारा सेवित होने पर पश्चिम दिशारूपी पत्नी पति पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करती है और यों पश्चिम दिशा प्रतिच्छन्न, छाई हुई, ढँकी, सुरक्षित, भयविहीन रहती है।

4. मित्र की सेवा

पाँच प्रकार से मित्र की सेवा करनी चाहिए—

(क) देकर।

(ख) प्रिय वचन बोलकर।

(ग) भलाई करके।

(घ) समानता का भाव प्रकट करके।

(ङ) वचन-पालन द्वारा विश्वास उत्पन्न करके।

यों पाँच प्रकार से सेवित हो मित्र-साथी बदले में कुल-पुत्र गृही पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं।

(च) प्रमत्त हो जाए तो उसकी रक्षा करते हैं।

(छ) प्रमत्त हो जाए तो उसके धन की रक्षा करते हैं।

(ज) संकट के समय उसे शरण देते हैं।

(झ) विपत्ति में उसका साथ नहीं छोड़ते।

(ञ) उसके परिवार के अन्य लोगों का भी आदर करते हैं।

यों पाँच प्रकार से सेवित हो उत्तर दिशारूपी मित्र-संगी बदले में पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं। इस प्रकार उत्तर दिशा प्रतिच्छन्न, छाई हुई, ढकी, सुरक्षित, भयविहीन होती है।

5. नौकर की सेवा

पाँच प्रकार से मालिक को नौकर-चाकर की सेवा करनी चाहिए—

(क) उसे शक्ति के अनुकूल ही काम देकर।

(ख) उसे भोजन-वेतन देकर।

(ग) रोगी हो जाए तो उसकी सुश्रूषा करके।

(घ) उत्तम सरस भोजन में उसे साथी बनाकर।

(ङ) उसे समय पर छुट्टी देकर।

पाँच प्रकार से सेवित होकर सेवक मालिक पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं—

(च) मालिक से पहले उठनेवाले होते हैं।

(छ) पीछे सोनेवाले होते हैं।

(ज) चोरी नहीं करते, दिया हुआ ही लेते हैं।

(झ) काम अच्छी प्रकार करने वाले होते हैं।

(ञ) यश-कीर्ति फैलाने वाले होते हैं।

यों पाँच प्रकार से सेवित हों, निचली दिशारूपी सेवक मालिक पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं। इस प्रकार निचली दिशा प्रतिच्छन्न, छाई हुई, ढँकी, सुरक्षित, क्षेमपूर्ण, भयविहीन रहती है।

6. श्रमण-ब्राह्मण की सेवा

पाँच प्रकार से कुल-पुत्र को श्रमण-ब्राह्मण की सेवा करनी चाहिए—

(क) मैत्रीभावपूर्ण शारीरिक कर्म से।

(ख) मैत्रीभावपूर्ण वाचिक कर्म से।

(ग) मैत्रीभावपूर्ण मानसिक कर्म से।

(घ) खुले दिल से अगवानी करके।

(ङ) लोकीय आवश्यकताओं की पूर्ति करके।

पाँच प्रकार से सेवित श्रमण-ब्राह्मण छः प्रकार से कुल-पुत्रों पर अनुकम्पा करते हैं—

(च) पापकर्मों से बचाते हैं।

(छ) कुशल कर्मों में लगाते हैं।

(ज) कल्याण चाहते हुए अनुकम्पा करते हैं।

(झ) अश्रुत धर्म सुनाते हैं।

(ञ) श्रुत धर्म का शोधन कर पुष्ट करते हैं।

(ट) सद्‌गति का रास्ता बताते हैं।

यों पाँच प्रकार से सेवित ऊपरी दिशारूपी श्रमण-ब्राह्मण सन्त सद्‌गृहस्थ पर छः प्रकार से अनुकम्पा करते हैं और इस प्रकार ऊपर की दिशा प्रतिच्छन्न, छाई हुई, ढँकी, सुरक्षित, क्षेमपूर्ण, भयविहीन होती है।

सद्‌गृहस्थ सद्धर्म की आचार-संहिता को धारण कर इस प्रकार छहों दिशाओं से भयमुक्त होता है।

भगवान् का यह मंगल उपदेश सुनकर श्रेष्ठि-पुत्र सिगाल निहाल हुआ। परम्परा से जड़ीभूत हुई निष्प्राण रूढ़ियों से मुक्ति पाकर सद्धर्म के जीवन्त व्यवहार-पथ पर चलकर अपना इहलोक और परलोक दोनों सुधार सका।

आओ, हम भी इसी प्रकार इस मंगलमयी गृही आचार-संहिता को धारण कर अपना इहलोक और परलोक दोनों सुधारें और सही माने में मंगलमयी हों।

हितकारी सत्पुरुष

यदि किसी कुल में सत्पुरुष जन्म ग्रहण करता है तो वह बहुत जनों के अर्थ, हित तथा सुख के लिए होता है—माता-पिता के अर्थ, हित तथा सुख के लिए होता है; स्त्री-बच्चे के अर्थ, हित तथा सुख के लिए होता है; दास कर्मकर लोगों के अर्थ, हित तथा सुख के लिए होता है; मित्र-अमात्यों के अर्थ, हित तथा सुख के लिए होता है; पूर्व-प्रेतों (मृत पूर्वजों) के अर्थ, हित तथा सुख के लिए होता है; राजा के अर्थ, हित तंथा सुख के लिए होता है; देवताओं के अर्थ, हित तथा सुख के लिए होता है तथा श्रमण-ब्राह्मणों के अर्थ, हित तथा सुख के लिए होता है।

हितसुखमय गृहस्थ

एक समय भगवान् कोलिय (प्रदेश) में कक्करवत्त नामक कोलिय निगम में विहार कर रहे थे। तब कोलिय-पुत्र दीर्घजाणु जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। पास जाकर, अभिवादन कर, एक ओर बैठा। एक ओर बैठे हुए कोलिय-पुत्र दीर्घजाणु ने भगवान् से निवेदन किया—"भन्ते! हम गृहस्थ हैं, काम-भोगी हैं, पुत्र, (स्त्री) की बाधाओं सहित (घर में) रहते हैं, काशी के चन्दन का लेप करते हैं, माला गन्धलेप का धारण करते हैं, चाँदी-सोने को उपयोग में लाते हैं। भन्ते भगवान्! हमको ऐसे धर्म का उपदेश करें जो हमारे लिए इस लोक में हितकर हो, सुखकर हो, परलोक में हितकर हो, सुखकर हो।"

"हे व्याघ्रपाद! ये चार धर्म ऐसे हैं जो कुल-पुत्र के इहलौकिक हित तथा इहलौकिक सुख के कारण होते हैं। कौन-से चार ? **उत्थान-सम्पदा, आरक्षा-सम्पदा, कल्याण-मित्रता तथा सम-जीविता।**"

उत्थान-सम्पदा किसे कहते हैं ? कोई कुल-पुत्र किसी भी जीविका के साधन का उपयोग करने वाला हो, चाहे कृषि हो, चाहे वाणिज्य हो, चाहे गो-पालन हो, चाहे धनुर्विद्या हो, चाहे राजकीय चाकरी हो, अथवा कोई शिल्प हो—उसमें वह दक्ष होता है, आलस्यरहित होता है, उसका विश्लेषण करने में, उसका उपयोग करने में संलग्न रहता है, उसे पूरा करने में, उसका संविधान करने में समर्थ होता है। यही **उत्थान-सम्पदा** है।

आरक्षा-सम्पदा किसे कहते हैं ? एक कुल-पुत्र उत्थान-वीर्य से, बाहुबल का उपयोग करके, पसीना बहाकर, धर्मानुसार ऐश्वर्य की प्राप्ति करता है। वह इसकी सावधानी बरतता है कि उसके ऐश्वर्य को न राजागण छीन कर ले जाएँ, न चोर चुरा कर ले जाएँ, न आग जलाए, न पानी बहाए

और न ही हम पर कोई अप्रिय उत्तराधिकारी अधिकार जमा ले। यह **आरक्षा-सम्पदा** है।

कल्याण-मित्रता किसे कहते हैं ? किसी भी गाँव या निगम में कोई कुल-पुत्र रहता है और उसमें जो गृहपति वा गृहपति-पुत्र ऐसे होते हैं जो चाहे अल्पवयस्क हों और चाहे अधिक आयु के हों, किन्तु शीलवृद्ध होते हैं—श्रद्धावान, सदाचारी, त्यागी, प्रज्ञावान। वह उनके साथ उठता-बैठता है, बातचीत करता है, चर्चा करता है। जैसे वे श्रद्धावान होते हैं, उनसे श्रद्धा का पाठ सीखता है..... जैसे वे शीलवान होते हैं, उनसे शील का पाठ सीखता है.... जैसे वे त्यागी होते हैं, उनसे त्याग का पाठ सीखता है..... जैसे वे प्रज्ञावान होते हैं, उनसे प्रज्ञा का पाठ सीखता है। वह उनके साथ उठता-बैठता है, बातचीत करता है, चर्चा करता है। उसे **कल्याण-मित्रता** कहते हैं।

सम-जीविता किसे कहते हैं ? एक कुल-पुत्र अपनी भोग सम्पत्ति की आय और व्यय की जानकारी के अनुसार सम-जीवन व्यतीत करता है। न बहुत ऊँचा-स्तर, न बहुत नीचा-स्तर; ऐसे मेरी आय व्यय से अधिक रहेगी, मेरा व्यय आय से अधिक न होगा। जैसे कोई तुलाधार (तराजू वाला) या तुलाधार का शिष्य तुला हाथ में पकड़ता है तो जानता है कि इतनी कमी है या इतनी अधिकता है। इसी प्रकार एक कुल-पुत्र अपनी (भोग-सम्पत्ति) की आय और व्यय के अनुसार सम-जीवन व्यतीत करता है। न बहुत ऊँचा-स्तर, न बहुत नीचा-स्तर; ऐसे मेरी आय व्यय से अधिक रहेगी, ऐसे मेरा व्यय आय से अधिक न होगा। यदि यह कुल-पुत्र अल्प आय वाला होता हुआ भी जीवन का स्तर ऊँचा रखता है तो लोग उसके बारे में कहते हैं कि यह कुल-पुत्र गूलर खाने के समान ऐश्वर्य का भोग करता है अर्थात् खाने से भी अधिक बिखेरता है। यदि यह कुल-पुत्र अधिक आय वाला होता हुआ भी जीवन का स्तर बहुत नीचा रखता है तो लोग उसके बारे में कहते हैं कि यह अनाथ-मरण मरने वाला है। यानी अपनी अर्जित सम्पत्ति का नाथ होते हुए भी उसका उचित उपयोग न कर सकने के कारण उसका स्वामी न रहता हुआ ही मृत्यु को प्राप्त होता है। लेकिन जब एक कुल-पुत्र अपनी भोग (सम्पत्ति) की आय और व्यय के अनुसार सम-जीवन व्यतीत करता है—न बहुत ऊँचा-स्तर, न बहुत नीचा-स्तर, ऐसे मेरी आय व्यय से अधिक रहेगी, पर मेरा व्यय आय से अधिक न होगा। इसे **सम-जीविता** कहते हैं।

इस प्रकार उत्पन्न भोग के साधनों के जाने (नाश) के चार रास्ते हैं—

वेश्यागामी होना, शराबी होना, जुआरी होना, कुसंगति में रहना। जैसे किसी बड़े तालाब में पानी आने के चार रास्ते हों और चार पानी जाने के रास्ते हों। कोई आदमी पानी आने के रास्तों को बन्द कर दे; किन्तु पानी जाने के रास्तों को खोल दे और वर्षा भली प्रकार न हो; तो उस बड़े तालाब की हानि की ही उम्मीद रखनी चाहिए, वृद्धि की नहीं। इसी तरह इस प्रकार उत्पन्न भोग के साधनों के जाने (नाश) के चार रास्ते हैं—वेश्यागामी होना, शराबी होना, जुआरी होना, कुसंगति में रहना।

इसी प्रकार उत्पन्न भोग के साधनों के आगमन के चार रास्ते हैं—वेश्यागामी न होना, शराबी न होना, जुआरी न होना, अच्छी संगति में रहना। जैसे किसी बड़े तालाब में चार पानी आने के रास्ते हों और चार पानी जाने के रास्ते हों। कोई आदमी पानी जाने के रास्तों को बन्द कर दे, पानी आने के रास्तों को खोल दे और वर्षा भली प्रकार हो तो उस बड़े तालाब की वृद्धि की ही उम्मीद रखनी चाहिए, हानि की नहीं। इसी तरह इस प्रकार उत्पन्न भोग के साधनों के आगमन के चार रास्ते हैं—वेश्यागामी न होना, शराबी न होना, जुआरी न होना, अच्छी संगति में रहना। ये चार धर्म ऐसे हैं जो कुल-पुत्र के इहलौकिक हित तथा इहलौकिक सुख के लिए होते हैं।

ये चार धर्म ऐसे हैं जो कुल-पुत्र के चार पारलौकिक हित तथा पारलौकिक सुख के लिए होते हैं। कौन-से चार ? **श्रद्धा-सम्पदा, शील-सम्पदा, त्याग-सम्पदा तथा प्रज्ञा-सम्पदा।**

श्रद्धा-सम्पदा किसे कहते हैं ? कुल-पुत्र श्रद्धावान होता है, वह तथागत की बोधि (ज्ञानप्राप्ति) के प्रति श्रद्धावान होता है—"वे भगवान् अरहंत हैं, सम्यक सम्बुद्ध हैं, विद्या तथा आचरण से युक्त हैं, सुगत हैं, लोकविदु हैं, अनुपम हैं, (दुष्ट) पुरुषों का दमन करने वाले सारथी हैं, देवताओं तथा मनुष्यों के शास्ता हैं, शिक्षक हैं, बुद्ध भगवान् हैं।" इसे **श्रद्धा-सम्पदा** कहते हैं।

शील-सम्पदा किसे कहते हैं ? कुल-पुत्र प्राणी-हिंसा से, चोरी से, व्यभिचार से, मिथ्या भाषण से और सुरा-मेरय्य आदि नशीली वस्तुओं के सेवन से विरत होता है। इसे **शील-सम्पदा** कहते हैं।

त्याग-सम्पदा किसे कहते हैं ? कुल-पुत्र मल-मात्सर्यरहित चित्त से गृहवास करता है, त्यागी होता है, दानशील, खुले हाथ वाला, याचक को देने तथा बाँटने वाला। इसे **त्याग-सम्पदा** कहते हैं।

प्रज्ञा-सम्पदा किसे कहते हैं ? कुल-पुत्र प्रज्ञावान होता है, उदय और

अस्त का अनुभव कराने वाली, अविद्या के आवरण को बींधने वाली, सम्यक् रूप से दुःख का क्षय कराने वाली आर्य प्रज्ञा से युक्त होता है। यह **प्रज्ञा-सम्पदा** है। ये चारों धर्म कुल-पुत्र के पारलौकिक हित तथा पारलौकिक सुख के कारण होते हैं।

उट्ठाता कम्मधेय्येसु, अप्पमत्तो विधानवा।
समं कप्पेति जीविकं, सम्भतं अनुरक्खति॥
सद्धो सीलेन सम्पन्नो, वदञ्ञू वीतमच्छरो।
निच्चं मग्गं विसोधेति, सोत्थानं सम्परायिकं॥
इच्चेते अट्ठ धम्मा च, सद्धस्स घरमेसिनो।
अक्खाता सच्चनामेन, उभयत्थ सुखावहा॥
दिट्ठधम्महितत्थाय, सम्पराय सुखाय च।
एवमेतं गहट्ठानं, चागो पुञ्ञं पवड्ढति॥

- काम करने में उत्साहयुक्त, अप्रमादी व्यवस्थापक, सम-जीवन व्यतीत करने वाला तथा अर्जित सम्पत्ति का अनुरक्षण करने वाला। श्रद्धावान, सदाचारी, प्रज्ञावान तथा त्यागी होकर वह नित्य पारलौकिक मार्ग को विशुद्ध करता है। इस प्रकार तथागत द्वारा, घर में रहने वाले श्रद्धावान व्यक्ति के इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख के लिए आठ धर्म बताए गए हैं। इस प्रकार गृहस्थों का त्याग उनकी पुण्य-वृद्धि का कारण होता है।''

सुखी गृहपति

तब अनाथपिंडिक गृहपति जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; पास जाकर भगवान् को प्रणाम कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए अनाथपिंडिक गृहपति को भगवान् ने यह कहा—"गृहपति! ये चार सुख हैं जो कामभोगी गृहस्थ को समय-समय पर प्राप्त होते हैं। कौन-से चार ? (भोग्य-पदार्थों के) होने का सुख, भोगने का सुख, ऋणी न होने का सुख तथा निर्दोष होने का सुख।

गृहपति! **(भोग्य-पदार्थों के) होने का सुख** कौन-सा सुख है ? गृहपति! किसी कुल-पुत्र के घर में ऐसे भोग्य पदार्थ होते हैं जो उसके उत्साह और प्रयत्न से कमाया होता है, बाहुबल से कमाया होता है, पसीने से कमाया होता है, तथा धर्मानुसार कमाया होता है। उसे इस बात का सुख होता है, आनन्द होता है कि उसके पास भोग्य पदार्थ हैं जिन्हें उसने उत्साह और प्रयत्न से कमाया है, बाहुबल से कमाया है, पसीने से कमाया है, तथा धर्मानुसार कमाया है। गृहपति! यही भोग्य-पदार्थों के होने का सुख कहलाता है।

गृहपति **(भोग्य-पदार्थों) के भोगने का सुख** कौन-सा होता है ? गृहपति! एक कुल-पुत्र ऐसे भोग्य-पदार्थों को भोगता है जिन्हें वह उत्साह और प्रयत्न से कमाता है, बाहुबल से कमाता है, पसीने से कमाता है, तथा धर्मानुसार कमाता है, और वह उनसे पुण्य-कर्म करता है। वह जब ऐसे भोग्य-पदार्थों को, जो उसके उत्साह और प्रयत्न से कमाया होता है, बाहुबल से कमाया होता है, पसीने से कमाया होता है, तथा धर्मानुसार कमाया होता है, भोगता है और उनसे पुण्य करता है तो उसे इससे सुख प्राप्त होता है, उसे इससे आनन्द प्राप्त होता है। गृहपति! यही भोग्य-पदार्थों के भोगने का सुख है।

गृहपति! **ऋणी न होने का सुख** कौन-सा है ? गृहपति! एक कुल-पुत्र को किसी का कुछ नहीं देना होता, न थोड़ा और न अधिक। मुझे किसी का थोड़ा या बहुत कुछ नहीं देना है, यह सोच कर वह सुख प्राप्त करता है, आनन्द प्राप्त करता है। गृहपति! यही ऋणी न होने का सुख है।

गृहपति! **निर्दोष होने का सुख** कौन-सा है ? गृहपति! एक कुल-पुत्र निर्दोष कायिक-कर्म से युक्त होता है, निर्दोष वाचिक कर्म से युक्त होता है, निर्दोष मानसिक कर्म से युक्त होता है। उसे यह सोच कर कि मैं निर्दोष कायिक कर्म से युक्त हूँ, निर्दोष वाचिक कर्म से युक्त हूँ, निर्दोष मानसिक कर्म से युक्त हूँ, सुख प्राप्त होता है, आनन्द प्राप्त होता है। गृहपति! यही निर्दोष होने का सुख है। गृहपति! ये चार सुख हैं, जो किसी भी काम-भोगी गृहस्थ को समय-समय पर, वक्त-वक्त पर प्राप्त होने चाहिए।"

करणीयमेत्त-सुत्त

कल्याण के लिए करणीय

करणीयमत्थकुसलेन यन्तसन्तं पदं अभिसमेच्च।
सक्को उजू च सूजू च, सुवचो चस्स मुदु अनतिमानी ॥

- जिसे अपना कुशल करना है, स्वार्थ साधना है और परम-पद निर्वाण उपलब्ध करना है उसे चाहिए कि वह सुयोग्य बने, सरल बने, अति सरल बने, सुभाषी बने, मृदु-स्वभावी बने और निरभिमानी बने।

सन्तुस्सको च सुभरो च, अप्पकिच्चो च सल्लहुकवुत्ति।
सन्तिन्द्रियो च निपको च, अप्पगब्भो कुलेस्वननुगिद्धो ॥

- वह सन्तुष्ट रहे। थोड़े में अपना पोषण करे। अल्पकृत्य रहे यानी दीर्घ-सूत्री योजनाओं में न उलझा रहे। सादगी का जीवन अपनाए। शान्त-इन्द्रिय बने। परिपक्व प्रज्ञावान बने। अप्रगल्भ बने यानी दुस्साहसी न हो और न ही जाति-कुल के मिथ्याभिमान में अनुरक्त हो।

न च खुद्दमाचरे किञ्चि, येन विञ्ञू परे उपवदेय्युं।
सुखिनोव खेमिनो होन्तु, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता ॥

- वह यत्किंचित् भी दुराचरण न करे जिसके कारण अन्य विज्ञजन उसे बुरा कहें। वह अपने मन में सदैव यही भावना करे—"सारे प्राणी सुखी हों! निर्भय सक्षेम हों! आत्म-सुखलाभी हों।"

ये केचि पाणभूतत्थि, तसा वा थावरा वनवसेसा।
दीघा वा ये व महन्ता, मज्झिमा रस्सका अणुकथूला ॥

- वे प्राणी चाहे स्थावर हों या जंगम, दीर्घ देहधारी हों या महान् देहधारी, मध्यम देहधारी हों या ह्रस्व देहधारी, सूक्ष्म देहधारी हों या स्थूल देहधारी—

दिट्ठा वा येव अदिट्ठा, ये च दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूत्ता वा सम्भवेसी वा, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता ॥

- दृश्य हों या अदृश्य, सुदूरवासी हों या अदूरवासी, जन्मे हों या अजन्मे, बिना भेद के सभी प्राणी आत्म-सुखलाभी हों!

न परो परं निकुब्बेथ, नातिमञ्ञेथ कत्थचि नं किञ्चि।
ब्यारोसना पटिघसञ्ञा, नाञ्ञमञ्ञस्स दुक्खमिच्छेय्य ॥

- वे परस्पर प्रवंचना न करें। कहीं किंचित् भी अवमान-अपमान न करें। क्रोध या वैमनस्य के वशीभूत होकर एक-दूसरे के दुःख की कामना न करें।

माता यथा नियं पुत्तं, आयुसा एकपुत्तं अनुरक्खे।
एवम्पि सब्बभूतेसु, मानसं भावये अपरिमाणं ॥

- जिस प्रकार जीवन की भी बाजी लगाकर माँ अपने इकलौते पुत्र की रक्षा करती है, उसी प्रकार वह भी समस्त प्राणियों के प्रति अपने मन में अपरिमित मैत्रीभाव बढ़ाये।

मेत्तञ्च सब्बलोकस्मिं, मानसं भावये अपरिमाणं।
उद्धं अधो च तिरियञ्च, असम्बाधं अवेरं असपत्तं॥

- वह अपने मानस की अपरिमित मैत्रीभावना ऊपर-नीचे और आड़े-तिरछे समस्त लोकों में व्याप्त कर ले, बिना किसी बाधा के, बिना किसी बैर के, बिना किसी द्रोह के।

तिट्ठं चरं निसिन्नो वा, सयानो वा यावतास्स विगतमिद्धो।
एतं सतिं अधिट्ठेय्य, ब्रह्ममेतं विहारमिधमाहु॥

- जब तक निद्रा के आधीन नहीं है, तब तक खड़ेस बैठे या लेटे हर अवस्था में इस अपरिमित मैत्रीभावना की जागरूकता को अधिष्ठित रखे, कायम रखे। इसे ही भगवान् ने ब्रह्मविहार कहा है।

पराभव सुत्त

जैसे वज्ञ गृहस्थ मांगलिक कर्मों में निरत रह कर उन्नतिपरायण होता है, वैसे ही अज्ञ गृहस्थ मांगलिक कर्मों से विरत रहकर और अमांगलिक कर्मों में निरत रह कर पतनोन्मुख होता है। एक बार किसी के पूछने पर भगवान् ने पतनोन्मुखी होने के कारण समझाए—

पराभवन्तं पुरिसं, मयं पुच्छाम गोतम।
भगवन्तं पुट्ठुमागम्म, किं पराभवतो मुखं॥

- हम-आप गौतम से पराभव (अवनति) की ओर जाने वाले पुरुष के विषय में पूछने आए हैं। भगवान्! बताएँ कि अवनति का क्या कारण है ?

भगवान्—

सुविजानो भवं होति, सुविजानो पराभवो।
धम्मकामो भवं होति, धम्मदेस्सी पराभवो॥

- उन्नतिशील व्यक्ति की पहचान सरल है। अवनतिगामी की भी पहचान सरल है। धर्म-प्रेमी की उन्नति होती है और धर्म-द्वेषी की अवनति।

असन्तस्स पिया होन्ति, सन्ते न कुरुते पियं।
असतं धम्मं रोचेति, तं पराभवतो मुखं॥

- जब किसी को असन्तजन प्रिय लगते हैं और सन्तजन अप्रिय; जब उसे असन्तों के आचरण रुचिकर प्रतीत होते हैं, तो यह उसकी अवनति का कारण है।

निद्दासीली सभासीली, अनुट्ठाता च यो नरो।
अलसो कोधपञ्ञाणो, तं पराभवतो मुखं॥

- जो व्यक्ति निद्रालु, सभा-समारोहों में जुटा रहने वाला, अनुद्योगी, आलसी और क्रोधी होता है, तो वह उसकी अवनति का कारण है।

यो मातरं पितरं वा, जिण्णकं गतयोब्बनं।
पहु सन्तो न भरति, तं पराभवतो मुखं॥

- जो व्यक्ति सम्पन्न होते हुए भी अपने वृद्ध एवं जीर्ण माता या पिता का भरण-पोषण नहीं करता है, तो वह उसकी अवनति का कारण है।

यो ब्राह्मणं समणं वा, अञ्ञं वा पि वनिब्बकं।
मुसावादेन वञ्चेति, तं पराभवतो मुखं॥

- जब कोई मनुष्य किसी श्रमण, ब्राह्मण अथवा अन्य याचक को कुछ न देने की मंशा से झूठ बोल कर धोखा देता है, तब वह उसकी अवनति का कारण है।

पहूतवित्तो पुरिसो, सहिरञ्ञो सभोजनो।
एको भुञ्जति सादूनि, तं पराभवतो मुखं॥

- जब किसी के पास प्रचुर मात्रा में धन-सम्पत्ति हो, हिरण्य-सुवर्ण हो, भोजन-सामग्रियाँ हों, तब भी अकेला सुस्वादु पदार्थों का उपभोग करता हो, तब वह उसकी अवनति का कारण है।

जातित्थद्धो धनत्थद्धो, गोत्तत्थद्धो च यो नरो।
सञ्ञातिं अतिमञ्ञेति, तं पराभवतो मुखं॥

- जो व्यक्ति अपनी जाति, धन-सम्पदा और गोत्र का अभिमान करता है और इस प्रकार अहंकारवश अपने बन्धुओं का निरादर करता है, तो वह उसकी अवनति का कारण है।

इत्थिधुत्तो सुराधुत्तो, अक्खधुत्तो च यो नरो।
लद्धं लद्धं विनासेति, तं पराभवतो मुखं॥

- जो व्यक्ति स्त्रियों में, शराब और जुए में रत रहता है, सारे कमाए धन को नष्ट करता है, तो वह उसकी अवनति है।

सेहि दारेहि असन्तुट्ठो, बेसियासु पदुस्सति।
दुस्सति परदारेसु, तं पराभवतो मुखं॥

- जो अपनी पत्नी से असन्तुष्ट रहता है, वेश्याओं और पराई स्त्रियों को प्रदूषित करता है, तो वह उसकी अवनति का कारण है।

अतीतयोब्बनो पोसो, आनेति तिम्बरुत्थनिं।
तस्सा इस्सा न सुपति, तं पराभवतो मुखं॥

- वृद्ध व्यक्ति जब नवयुवती को (ब्याह) लाए और उसके प्रति अविश्वास एवं ईर्ष्या के कारण वह सो न सके, तो वह उसकी अवनति का कारण है।

इतिंथ सोण्डि विकिरणिं, पुरिसं वा पि तादिसं।
इस्सरियस्मिं ठपेति, तं पराभवतो मुखं॥

- जब किसी लालची तथा सम्पत्ति नष्ट करने वाली स्त्री या पुरुष को अपनी सम्पत्ति का प्रभुत्व दे दिया जाता है, तब वह उसकी अवनति का कारण है।

अप्पभोगो महातण्हो, खत्तिये जायते कुले।
सो च रज्जं पत्थयति, तं पराभवतो मुखं॥

- क्षत्रिय कुल में उत्पन्न परन्तु अल्प सम्पत्तिशाली और महालोभी व्यक्ति जब राज्य पाने की कामना करता है, तो वह उसकी अवनति का कारण है।

एते पराभवे लोके, पण्डितो समवेक्खिय।
अरियो दस्सनसम्पन्नो, स लोकं भजते सिवन्ति॥

- बुद्धिमान व्यक्ति संसार में अवनति के कारण इन कारणों को भली प्रकार जानकर आर्य-दर्शन सम्पन्न होता है, वह इसी लोक में निर्वाणलाभी होता है।

मित्र के प्रति व्यवहार

मित्र वही जो हमारे मंगल में सहायक हो, कल्याण में सहयोगी हो, भलाई में साथी हो। ऐसा व्यक्ति जो भी हो, हमारा हितैषी है। उसके प्रति कृतज्ञतापूर्ण मंगल मैत्री का सद्भाव रखना सर्वथा उपयुक्त है, सर्वथा समीचीन है।

ऐसे किसी मित्र के प्रति किसी भी काम से जब हमारे मन में दुर्भाव जागता है, तो वह हमारे दूषित चित्त का ही परिचायक होता है। मित्र के प्रति दुर्भावना से भरा चित्त उस मित्र का कुछ बिगाड़े या न बिगाड़े, परन्तु हमारा अनर्थ अवश्य करता है। सामान्यतः हमारा दूषित चित्त हमें व्याकुल बनाता है, परन्तु अपने किसी उपकारी मित्र के प्रति उत्पन्न हुआ दूषित चित्त तो अत्यधिक व्याकुल बनाता है। यह अनुभूत सत्य है, अनुभवगम्य सत्य है।

ऐसे किसी मित्र के प्रति जब हमारे मन में सद्भाव जागता है, तो वह हमारे स्वच्छ, सरल चित्त का ही परिचायक होता है। सद्भावों से भरा मांगलिक चित्त उस मित्र का जितना भला करता है, उससे कहीं अधिक हमारा अपना भला करता है। सामान्यतः हमारा सद्भावित चित्त हमें हर्षित-पुलकित करता है, परन्तु अपने किसी उपकारी मित्र के प्रति उत्पन्न हुआ सद्भावित चित्त हमें अत्यधिक हर्षित-पुलकित करता है। यह अनुभूत सत्य है, अनुभवगम्य सत्य है।

हो सकता है, कोई व्यक्ति जो कभी हमारा परम मित्र रहा हो, परम हितैषी रहा हो, किन्तु किसी कारणवश, भ्रान्तिवश, स्वार्थपरतावश अथवा हमारी ही किन्हीं भूल के कारणवश यदि आज हमारा परम शत्रु बन गया हो, हमारे जीवन का ग्राहक बन बैठा हो तो उसे गलत काम करने से रोकने के लिए कठोर से कठोर व्यवहार करते हुए भी अपने अन्तस को उसके प्रति असीम मंगल-मैत्री से ही भरे रखना है। यही उपयुक्त है।

उस व्यक्ति के वर्तमान व्यवहार को महत्त्व न देकर अतीत में जब कभी उसने हमारा जो भी उपकार किया हो, उसे याद करें। उसके प्यार-दुलार को, स्नेह-सौमनस्यता को याद करें और उन्हीं यादों के आधार पर अपने मन की मृदुलता बनाए रखें, सद्भावना बनाए रखें। ऊपर-ऊपर से भले कठोर चट्टानी पत्थर दिखें, पर भीतर से तो छलछलाते निर्मल निर्झर बने रहें।

साधको, मैं जानता हूँ यह आसान नहीं है। जब कोई व्यक्ति अनीति का बर्ताव करने लगता है, तो उसके प्रति तिलमिला उठना आसान है, मैत्री जाग्रत् करना कठिन है, बहुत कठिन है। परन्तु कठिन होते हुए भी यही तो करणीय है। यही साधना है। यही तप है। यही संग्राम है। अपने आपके प्रति संग्राम।

अपनी दुर्बलताओं के प्रति संग्राम। और यह संग्राम जीवनभर का है। सच है! शूर का संग्राम दो-चार घड़ी का ही होता है। रण-भूमि में उतरा, दो-दो हाथ हुए और बात समाप्त। पर साधक का संग्राम तो जीवनभर चलता है। जीवन-भर जूझते रहना है उसे तो—

शूर संग्राम है घड़ी दो-चार का,
लड़-लड़ कर वीरगति पाई।
सन्त संग्राम है रात-दिन जूझना,
देह-परजंत का काम भाई॥

रात-दिन जूझना है। देह-पर्यन्त जूझना है। अनीति और अन्याय की कठिन स्थितियाँ जीवन में जब-जब आएँ, तब-तब एक ओर उनका प्रबल प्रतिक़ार करते रहना है, दूसरी ओर रोम-रोम को मंगल भावों से परिपूरित रखना है।

मंगल हो! कल्याण हो! भला हो!

मेत्तानिसंस सुत्त

बोधिसत्त्व जब अपने पूर्व जीवनकाल में तेमिय राजकुमार के रूप में जन्मे तब उन्होंने अपने सारथी सुनन्द को जिस मैत्री-धर्म का, मेत्ता भावना का उपदेश दिया, वह सभी गृहस्थ विपश्यी साधकों के लिए अपरिमित प्रेरणा का स्रोत है—

पहूतभक्खो भवति, विप्पवुट्ठो सकं धरा।
बहू नं उपजीवन्ति, यो मेत्तानं न दुब्भति ॥

- जो मित्रों के प्रति विश्वासघाती नहीं होता उसे अपने घर से प्रवास में जाने पर खाने-पीने की कमी नहीं रहती। वह बहुत धन कमाता है और अनेकों की जीविका का सहारा बनता है।

यं यं जनपदं याति, निगमे राजधानियो।
सब्बत्थ पूजितो होति, यो मित्तानं न दुब्भति ॥

- जो मित्रों के प्रति विश्वासघाती नहीं होता वह जिस-जिस जनपद, निगम व राजधानी में जाता है, सर्वत्र सम्मानित होता है।

नास्स चोरा पसाहन्ति, नातिमञ्ञन्ति खत्तिया।
सब्बे अमित्ते तरति, यो मित्तानं न दुब्भति ॥

- जो मित्रों के प्रति विश्वासघाती नहीं होता उसे चोर परेशान नहीं करते। शासक उसका अनादर नहीं करते। वह सभी शत्रुओं पर विजय पा लेता है।

अक्कुद्धो सघरं एति, सभायं पटिनन्दितो।
ञातीनं उत्तमो होति, यो मित्तानं न दुब्भति ॥

- जो मित्रों के प्रति विश्वासघाती नहीं होता, वह शान्तचित्त से अपने घर लौटता है। सभाओं में उसका अभिनन्दन होता है। बन्धु-बान्धवों में वह श्रेष्ठ माना जाता है।

सक्कत्वा सक्कतो होति, गरु होति सगारवो।
वण्णकित्तिभतो होति, यो मित्तानं न दुब्भति ॥

- जो मित्रों के प्रति विश्वासघाती नहीं होता, वह औरों का सत्कार करता है और स्वयं सत्कृत होता है। औरों को गौरव देता है और स्वयं गौरवान्वित होता है। वर्ण-कीर्तिमान होता है। लोगों में प्रसिद्धि प्राप्त करता है।

पूजको लभते पूजं, वन्दको पटिवन्दनं।
यसोकित्तिञ्च पप्पोत्ति, यो मित्तानं न दुब्भति ॥

- जो मित्रों के प्रति विश्वासघाती नहीं होता वह औरों को पूजता है और

स्वयं पूजित होता है। औरों की वन्दना करता है और स्वयं वन्दनलाभी होता है। उसका गुणानुवाद होता है व यश फैलता है।

अग्गि यथा पज्जलति, देवताव विरोचति।
सिरिया अजहितो होति, यो मित्तानं न दुब्भति॥

- जो मित्रों के प्रति विश्वासघाती नहीं होता, वह अग्निशिखासदृश प्रकाशवान होता है। देवतासदृश वर्चस्वमान होता है और श्री-वैभवसम्पन्न होता है।

गावो तस्स पजायन्ति, खेत्ते वुत्तं विरुहति।
वुत्तानं फलमस्नाति, यो मित्तानं न दुब्भति॥

- जो मित्रों के प्रति विश्वासघाती नहीं होता, उसका गोधन बढ़ता है, उसके खेत में बोए बीज बढ़ते हैं और उनमें लगे फल को वह खाता है।

दरितो पब्बतातो वा, रुक्खातो पतितो नरो।
चुतो पतिट्ठं लभति, यो मित्तानं न दुब्भति॥

- जो मित्रों के प्रति विश्वासघाती नहीं होता वह कभी असावधानीवश दर्रे या कन्दरा में गिरता है, पर्वत से फिसलता है अथवा वृक्ष से पतित होता है तो उसे सहारा मिल जाता है और वह चोट से बच जाता है।

विरूलहमूलसन्तानं, निग्रोधमिव मालुतो।
अमित्ता नप्पसाहन्ति, यो मित्तानं न दुब्भतीति॥

- जो मित्रों के प्रति विश्वासघाती नहीं होता उसके शत्रु उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते जैसे कि तेज हवा गहरी जड़ों वाले सुदृढ़ बरगद का कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

मंगल हो! कल्याण हो!

जागे धर्म गृही जीवन में, मंगल हो! कल्याण हो!
छोटे पाएँ प्यार सदा ही, सदा बड़ों का मान हो॥
हों नर-नारी धर्मविहारी, धर्मवन्त सन्तान हो।
सुख छाए समृद्धि छाए, पूरे सब अरमान हों॥
बरसे बरखा सदा समय पर, भरे खेत खलिहान हों।
फल फूलों से लदे हुए सब, बाग और उद्यान हों॥
सुखद शान्ति हो जीवन पथ पर, होठों पर मुस्कान हो।
मिले सफलता कदम कदम पर, सदा धर्म का ध्यान हो॥

सदाचार का जीवन जीए, मन पर लगी लगाम हो।
करे सत्य का दर्शन भीतर, सम्यक् अन्तर्ज्ञान हो॥
सच्चाई से धन अर्जित हो, मुक्त-हस्त से दान हो।
अपना भी हित सुख सध जाए, सुखी सभी इन्सान हों॥
धन आए पर सिर ना सूजे, दूर सदा अभिमान हो।
भरे नम्रता अन्तर्मन में, जरा न गर्व गुमान हो॥
परपीड़ा का भाव न जागे, सेवा प्रमुख प्रधान हो।
मन मैत्री से भरा रहे, चित करुणा-कृपा-निधान हो॥
हो उत्थान कुशल कर्मों का, अकुशल का अवसान हो।
हो महान् जीवन, मानो मानवता का वरदान हो॥
मनचाही या अनचाही हो, समता दृढ़ बलवान हो।
चित किंचित् विचलित न होवे, मुश्किल सब आसान हो॥
अडिग रहे चट्टान सदृश, चाहे जैसा तूफान हो।
ऐसा हो इन्सान कि जैसे, स्वयं सिद्ध भगवान् हो॥

●

डॉ० प्रेमनारायण सामेनी की अन्य प्रमुख कृतियाँ

बुद्ध और उनकी शिक्षा

(प्रश्नोत्तरी)

समय के तीव्र प्रवाह के साथ विचारों में भी उतनी ही गति से परिवर्तन होना स्वाभाविक है। गतिशील जीवन-शैली व सामूहिक सोच ने हमें सकल विश्व को एक इकाई के रूप में पहचान करने को विवश कर दिया है। विश्व के विभिन्न धर्म जहाँ एक-दूसरे से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए छिद्रान्वेषण में लग जाया करते हैं, वहीं अब किसी सार्वभौमिक, सार्वलौकिक सार्वजनीन व सर्वदेशीय धर्म की तलाश होने लगी। बुभुक्षाभरी जिज्ञासा ने थियोसॉफिकल सोसाइटी के संस्थापक अध्यक्ष (स्व०) हेनरी यस० ऑल्कॉट का ध्यान 'भगवान् बुद्ध' के विचारों की ओर आकर्षित किया। उन्होंने बुद्ध-धर्म व उनके विचारों में वह सब कुछ पाया, जिसकी आवश्यकता आज के विश्व को थी। धर्म केवल जानने के लिए नहीं, प्रत्युत् धारण करने के लिए होता है। यह जीवन जीने की वास्तविक कला सिखाता है। अर्थ, काम, मोक्ष का प्रदाता है। इसीलिए 1881 में उन्होंने अंग्रेजी में यह पुस्तक लिखी थी। यह पुस्तक प्रश्नोत्तरी के रूप में अपनी विशेषताओं के कारण थोड़े ही समय में इतनी लोकप्रिय हो गयी कि यह अगणित संस्करणों के साथ यूरोप तथा विश्व की अनेक भाषाओं में प्रकाशित होने लगी। कुछ देशों ने तो इसे विद्यालयों की पाठ्य-पुस्तक के रूप में भी स्वीकृत कर दिया। पर हिन्दी में अब तक इसका अनुवाद न होना वस्तुतः एक दुर्भाग्यपूर्ण पहलू था। अतः सबके कल्याण हेतु हिन्दी-भाषी लोगों के लिए इसका हिन्दी अनुवाद उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया है। धर्म की इतनी संक्षिप्त पर पूर्ण, सरल, सटीक, स्पष्ट तथा उपयोगी व्याख्या कदाचित् ही कहीं मिले। [पृष्ठ : 96]

बुद्ध और उनके समकालीन

'बुद्ध और उनके समकालीन' में समय-समय पर पत्र-पत्रिका में प्रकाशित मेरे लेखों का संग्रह है। इसमें कोई तारतम्य नहीं है। यह लेख बुद्ध-वाणी त्रिपटक के हिन्दी अनुवाद पर आधारित हैं, जो कल्याणमित्र श्री सत्यनारायण गोयनका की पुस्तक 'त्रिपटक में सम्यक् सम्बद्ध' में दिये गये हैं। जब-जब ये लेख छपे उस समय अवश्य कुछ ऐसा सन्दर्भ रहा कि उन्हें छपवाने की आवश्यकता महसूस की गयी। 2600 वर्ष पूर्व के इन महान् पुरुषों का जीवन आज भी कितना प्रासंगिक है, कितना आचरण करने योग्य है। भगवान बुद्ध की दिनचर्या पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है, इसलिए मैंने उचित समझा जो लोगों को नहीं मालूम है उसे बताया जाय। [पृष्ठ : 132]

सोचें

जब तक हम अपनी धारणाओं, मान्यताओं, रूढ़ियों के अन्दर बन्द रहते हैं, तब तक हम चीजों को वैसा नहीं देख सकते हैं जैसी वे होती हैं। अन्ध- विश्वास, अन्ध-श्रद्धा, परम्पराओं में इतने जकड़े रहते हैं कि उसे तर्क की कसौटी पर या विश्लेषण करना आवश्यक ही नहीं समझते। लकीर के फकीर बने रहते हैं। यह बात धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में विशेष रूप से सब पर लागू होती है। जो प्रचलित है, परम्परागत है उसी को सच मानते रहते हैं। कहा भी गया है कि ''मजहब में अक्ल का दखल नहीं होता है।'' चीजें वैसी नहीं हैं जैसा हम ऊपरी तौर पर उनके बारे में समझते हैं। विपश्यना साधना दृष्टिकोण के बदलाव को अनुभूति पर उतारने का अवसर देती है। अध्यात्म पर चलने के व्यावहारिक पक्ष का ज्ञान होता है जिससे 'जानो तब मानो' के महत्व को समझा जा सकता है। विपश्यना-साधना में हम जितनी तन्मयता से और निरन्तरता से डूबते जायें तो इन्द्रियातीत स्थिति तक पहुँचने में कोई सन्देह नहीं रह जाता है। यही सोच बदलने का राज मार्ग है कि हर सोच या विचार के विषय में प्रश्न करना सीखें कि—आखिर ऐसा ही क्यों? [पृष्ठ : 100]

समाधान

जीवन है तो समस्याएँ हैं। समस्याएँ हैं तो उनके समाधान भी हैं। अनादि काल से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र की समस्याएँ सदैव एक सी ही रही हैं। जैसे विज्ञान की पहुँच नें प्रकृति के रहस्यों को खोज कर समस्याओं का समाधान निकाला वैसे नयी समस्याएँ बढ़ती गयीं। संचार और त्वरित गति से यातायात बढ़ा, दुनिया एक छोटा गाँव बन गया जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र छोटा होता गया और अपने विचारों की लड़ाई बढ़ती गयी जो विश्व युद्धों के विकराल रूप में दिखायी दी। हाइड्रोजन बम, एटम बम एवं मिसाइलों की पहुँच से हर देश पर खतरा है। आज भी कट्टरवादी सुन्नी और शिया आपस में लड़ रहे हैं और आतंकवाद का छद्म युद्ध सारी दुनिया पर लाद रहे हैं। यह विचारों की लड़ाई शुद्ध विचारों से, सहिष्णुता से, प्रेम और सद्भाव से ही सुलझ सकती है। इसके लिए हर व्यक्ति को अपने द्वेषपूर्ण या रागरंजित विचार छोड़ने पड़ेंगे और तर्कसंगत, युक्तिसंगत, समतापरक एवं सर्वहितकारी विचारों को अपनाना पड़ेगा तभी यह कट्टरवादिता की धुन्ध छँटेगी।

प्रस्तुत लेखों में इस समस्या को लगभग 2600 वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध द्वारा कैसे सुलझाया गया है, इसका वर्णन है। आज के राजनीतिक, राजपुरुष एवं राज्य के कर्मचारी इन्हें आत्मसात् करें और सच्चे मन से जनता जनार्दन की सेवा के भाव से कार्य करें तो स्थिति सुधर ही नहीं सकती वरन् राष्ट्र विकास, समृद्धि और शान्ति की ओर तेजी से अग्रसर हो सकता है। बुद्ध के अनुयायी प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के शिलालेख मानव धर्मों को दर्शाते हैं और बताते हैं कि समस्याएँ कैसे हल हो सकती हैं? [पृष्ठ : 108]



डॉ० प्रेमनारायण सोमानी

पिता : श्री ज्वाला प्रसाद।

जन्म : इटावा, उत्तर प्रदेश।

जन्मतिथि : 10 जनवरी 1931।

शिक्षा : एम०बी०बी०एस० (1954); एम०डी०–मेडिसिन(1958); मैसाचुसेट्स हार्ट एसोसिएशन फेलो, यू.एस.ए.; डा०ड० फेलोशिप, जर्मनी; कॉमनवेल्थ फेलोशिप, इंग्लैण्ड।

कार्य-क्षेत्र : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान (1962-1991)— विभागाध्यक्ष, मेडिसिन विभाग; विभागाध्यक्ष, हृदय रोग विभाग; डीन, फैकल्टी ऑफ मेडिसिन; निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान।

अब : विपश्यना के वरिष्ठ सह-आचार्य।

प्रकाशित ग्रन्थ : बुद्ध और उनकी शिक्षा (अनुवाद), बुद्ध और उनके समकालीन, समाधान, सोचें ?,अध्यात्म का प्रशस्त पथ, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में चिकित्सा व अन्य विषयान्तर्गत आलेख।



अध्यात्म के क्षेत्र में : स्वयं जानो तो मानो

आओ कलामो! तुम लोग किसी बात को :

— केवल इसलिये न स्वीकार करो कि यह बात अनुश्रुत है।

— केवल इसलिये न स्वीकार करो कि यह परम्परागत है।

— केवल इसलिये न स्वीकार करो कि यह धर्मग्रन्थ के अनुकूल है।

— केवल इसलिये न स्वीकार करो कि यह तर्कसंगत है।

— केवल इसलिये न स्वीकार करो कि वह अनुमान-सम्मत है।

— केवल इसलिये न स्वीकार करो कि कहने वाले का व्यक्तित्व भव्य-आकर्षक है।

— केवल इसलिये न स्वीकार करो कि कहने वाला श्रमण या ब्राह्मण हमारा पूज्य है।

जब कलामो, तुम स्वानुभूति से जान लो कि यह धर्म-उपदेश कुशलकारी है, निर्दोष है, अनुभवी, समझदार लोगों द्वारा प्रशंसित है और स्वयं जान लो कि सम्पूर्णतया ग्रहण करने से यह सर्वहितकारी है, सुखकारी है तो कलामो, इन्हें ग्रहण कर जीवन में उतारो! —*कलामा सूत्र, अंगुत्तर निकाय*

अप्र
अनुराग प्रकाशन
विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : +91-542-2421472
E-Mail : anuragprakashan@gmail.com
Shop at : www.vvpbooks.com

₹ 100.00
ISBN:978-81-89498-87-0

